सम्राट् विक्रमादित्य

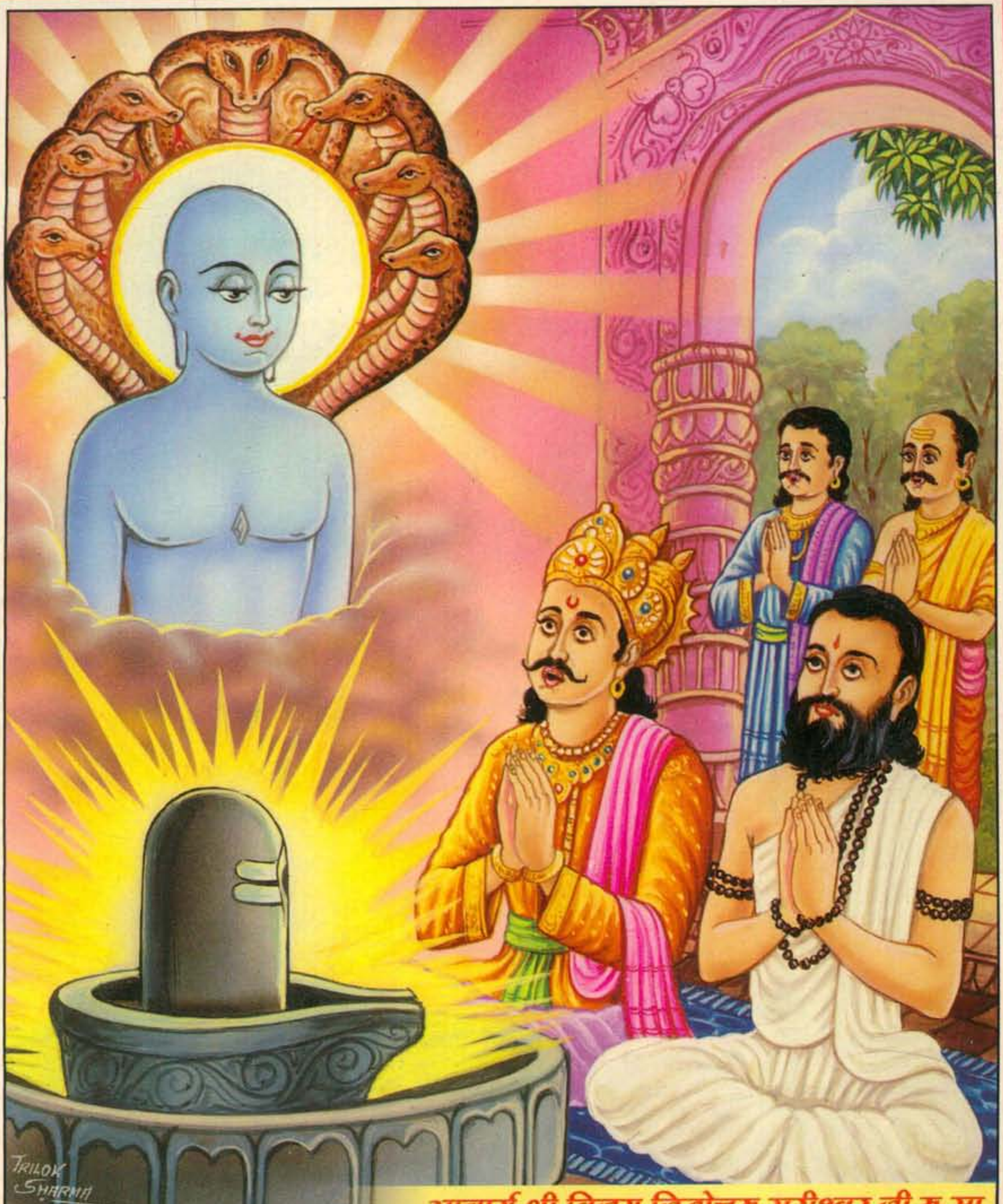

आचार्य श्री विजय जिनोत्तम सूरीश्वर जी म.सा.

प्रकाशन सहयोग — पू. मातु श्री पतासीबाई घीसुलाल जी राठोड, चांचोडी (पूना)

सम्राट् विक्रमादित्य

भारतीय इतिहास में श्रीराम और श्रीकृष्ण के पश्चात् विक्रमादित्य ही ऐसा राजा हुआ जिसको सम्पूर्ण भारत में न्याय–नीति का प्रतिष्ठापक एवं प्रजापालक के रूप में याद किया जाता है।

सम्राट् विक्रम के नाम से आज विक्रम संवत् 2058 चल रहा है। इसके अनुसार विक्रमादित्य को हुए इतना समय तो बीत ही चुका है। इतिहासकारों का मानना है कि ईस्वी पूर्व 56-57 के लगभग विक्रम संवत् का प्रारम्भ हुआ था। यह समय विक्रमादित्य के शासन का सर्वाधिक शांति और समृद्धि का समय था। सम्राट् विक्रमादित्य स्वयं विद्वान थे, विद्वानों का आदर करते थे। सभी धर्मों व धर्मोचार्यों का सम्मान करते थे।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य के शासन काल में हुये। वे जैन इतिहास में एक युगप्रवर्तक साहित्यकार थे। न्याय एवं दर्शन आदि विषयों पर उनके अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं, जो अपने विषय के उच्चकोटि के ग्रंथ माने जाते हैं। जैन इतिहास में आचार्य सिद्धसेन एक क्रांतिकारी और नवीन विचारधारा के पक्षपाती थे। उन्होंने अपने ज्ञानबल और विद्याबल से जैनशासन की महान प्रभावना की। सम्राट् विक्रमादित्य आपकी विद्वत्ता और तपोबल से प्रभावित होकर जैनधर्मानुरागी बना।

प्रतिष्ठा शिरोमणि विद्वद् वरेण्य आचार्यश्री सुशील सूरीश्वर जी म. सा. के पट्टधर विद्वद्रत्न प्रवचन प्रभावक **आचार्यश्री जिनोत्तम सूरीश्वर जी म. सा.** ने इस पुस्तक की रचना कर हमें अनुग्रहीत किया है।

—महोपाध्याय विनय सागर *—श्रीचन्द सुराना 'सरस'*

लेखक : आचार्य श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वर जी म. सा.

सम्पादक : श्रीचन्द सुराना "सरस"

प्रकाशन प्रबंधक : संजय सुराना

चित्रांकन : श्यामल मित्र

प्रकाशक

श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति

C/o, संघवी श्री गुणदयालचंद जी भंडारी, राइका बाग, पुरानी पुलिस लाइन के पास, जोधपुर (राज.)

श्री दिवाकर प्रकाशन

ए-7, अवागढ़ हाउस, अंजना सिनेमा के सामने, एम. जी. रोड, आगरा-282 002. दूरभाष : 0562–351165

सचिव, प्राकृत भारती एकादमी, जयपुर

13-ए, मेन मालवीय नगर, जयपुर-302 017. दूरभाष : 524828, 561876, 524827

अध्यक्ष, श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर (राज.)

संवत्-प्रवर्त्तक

सम्राट् विक्रमादित्य

चित्रकथा

ॐ

❖ शुभ आशीर्वाद प्रदाता ❖

परम पूज्य आचार्य भगवंत
श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी म. सा.

❖ लेखन ❖

परम पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वर जी म. सा.

❖ प्रकाशन अनुदान ❖

पू. पिताश्री घीसुलाल जी एवं पू. मातु श्री पतासी बाई
शा. अशोक कुमार–श्रीमती दिवाली ब्हेन, शा. मनसुखलाल–श्रीमती यशोदा ब्हेन,
शा. सोहनलाल–श्रीमती सीमा ब्हेन,
पुत्र–प्रदीप, जयेश, रीतेश, नील, *पुत्री*– खुश्बू, रीहा, साक्षी,
बेटा पोता– शा. घीसुलाल जी राठोड
चांचोडी (पूना)

प्रतिष्ठान :
✦ *श्री लक्ष्मी ज्वैलर्स*, पूना ✦ *सत्यम ज्वैलर्स*, पूना ✦ *ज्योति ज्वैलर्स*, पूना

- पुस्तक : सम्राट् विक्रमादित्य
- प्रेरक : पू. मुनिराज श्री हेमरत्न विजय जी म.
  पू. मुनिराज श्री जिनरत्न विजय जी म.
- संपादक : श्रीचन्द सुराना 'सरस'
- प्रकाशन प्रबंधन : संजय सुराणा
- चित्रण : श्यामल मित्र
- प्रथम प्रकाशन : प्रतियाँ–2000
  श्री वीर सं. 2528 श्री विक्रम सं. 2058
  श्री नेमि सं. 53 श्री लावण्य सं. 40
- विमोचन : भाद्रपद शुक्ल-12 बुधवार 18 सितम्बर 2002
  (पूज्य श्री सुशील गुरुदेव का 86वाँ जन्म दिवस)
  श्री सम्मैतशिखर जी महातीर्थ
- मुद्रक : श्री दिवाकर प्रकाशन, आगरा
- प्रकाशक : श्री सुशील–साहित्य प्रकाशन समिति
  संघवी श्री गुणदयालचंद जी भंडारी
  राइका बाग, पुरानी पुलिस लाइन के पास
  पो. जोधपुर (राजस्थान)

प्राप्ति स्थान :

* ***श्री अष्टापद जैन तीर्थ, सुशील विहार***

वरकाणा रोड, मु. रानी स्टेशन-306115 जि. पाली (राज.)

फोन : (02934) 22715 फैक्स : 23454

* ***श्री दिवाकर प्रकाशन***

ए-7, अवागढ़ हाउस, अंजना सिनेमा के सामने, एम. जी रोड, आगरा-282 002.

फोन : (0562) 351165, 525020 फैक्स : (0562) 310433

卐 समर्पण 卐

आस्था के आयाम
गुणों के निधान
कवित्व के अजस्र स्रोत
ज्ञान गुण ओत-प्रोत

परमोपकारी-भवोदधितारक-परमकृपालु
मेरी जीवन नैया के सुकानी
परम पूज्य गुरुदेव आचार्य भगवंत
श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर
जी म. सा. के कर-कमलों में
सवनिय सादर
समर्पित

-विजय जिनोत्तम सूरि.

कृपा छत्र मुझ पर सदा, रखना दीन दयाल।
यही जिनोत्तम भावना, रखना पूर्ण कृपाल।।

卐 ॐ ह्रीँ नमो तित्थस्स 卐

धन्य तीर्थ

राजस्थान शणगार भारत भूषण गौडवाड गौरव

जय अष्टापद

संपूर्ण भारतवर्ष में अपने ढंग का प्रथम प्रयास

श्री अष्टापद जैन तीर्थ

सुशील-विहार, वरकाणा रोड, रानी-३०६११५
जि. पाली (राज.) (०२६३४) २२७१५, फैक्स नं. २३४५४

● शुभ प्रेरणा ●

प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म.सा.
प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वर म.सा.

● सेवा-पूजा-भक्ति का अनुपम धर्म-स्थल ●

सुविधायें–भोजन एवं भाताशाला, आधुनिक यात्री निवास, यातायात साधन। दर्शनार्थ पधार कर आत्म-शान्ति प्राप्त करें।

अवश्य पढ़ें...

सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय की सत्प्रेरणा से प्रकाशित

हिन्दी पत्रिका

सुशील-सन्देश

मानद सम्पादक:

श्री नैनमल विनयचंद्रजी सुराणा, सिरोही

- क्या आप अपने जीवन को **सुसंस्कारों से सुवासित** करना चाहते हैं ?
- क्या आप **जैनधर्म के रहस्य, जैन इतिहास-तत्त्वज्ञान-जैन, आचार-प्रेरणादायी कथाएँ** पढ़कर जीवन को धर्म की सौरभ से सुवासित करना चाहते हैं ?
- हाँ ! तो आज ही **सुशील-सन्देश** के आजीवन सदस्य बनें।

आजीवन सदस्यता शुल्क
रु. ७११/- मात्र

अनेकविध विशेषताओं से परिपूर्ण, जीवन में सदाचार-
पवित्रता का सन्देश प्रवाहित करने वाला,
गत १६ वर्षों से नियमित प्रकाशित
सुशील-सन्देश के सदस्य अवश्य बनें।

अपना सहयोग
अवश्य प्रदान करें।

सम्पर्क सूत्र :
सुशील सन्देश प्रकाशन मन्दिर
जी/४/६, रानी सती नगर, पहला माला, एस.बी. रोड
मलाड (पश्चिम), मु. मुम्बई – ४०००६४

वन्दन हो गुरुचरणे

शासन सम्राट्–तपोगच्छाधिपति

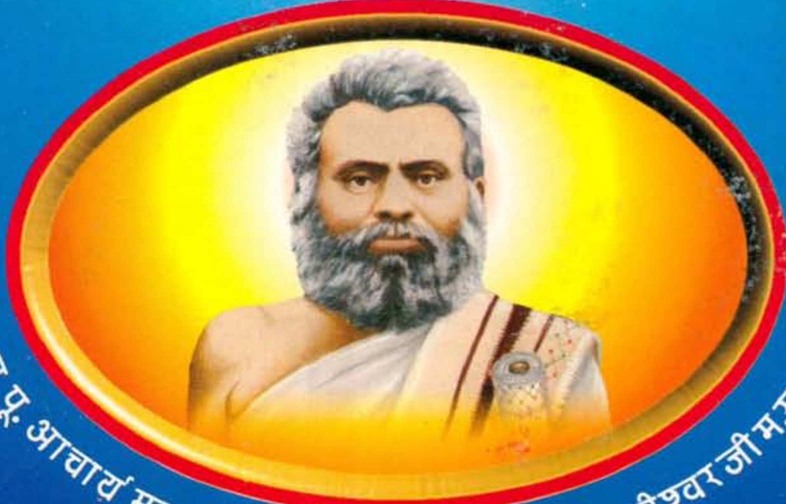

प.पू. आचार्य महाराजाधिराज श्रीमद् विजय नेमि सूरीश्वर जी म.सा.

साहित्य सम्राट्

प.पू. आचार्य देवेश श्रीमद् विजय लावण्य सूरीश्वर जी म.सा.

संयम सम्राट्

प.पू. आचार्य प्रवर श्रीमद् विजय दक्ष सूरीश्वर जी म.सा.

प. पू. शासन सम्राट् समुदाय के वडिल–गच्छाधिपति

परम पूज्य आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी म. सा.

जीवन परिचय

जन्म	:	वि. सं. १९७३ भाद्रपद शुक्ला द्वादशी २८ जून १९१७ चाणस्मा (उत्तर गुजरात)
माता	:	श्रीमती चंचल बेन मेहता
पिता	:	श्री चतुरभाई मेहता
नाम	:	गोदड़भाई
परिवार गोत्र	:	चौहाण गोत्र वीशा श्रीमाली
संयमी परिवार	:	पिताजी व दो भाई एवं एक बहन ने जैन भागवती दीक्षा अंगीकार की
दीक्षा	:	वि. सं. १९८८ कार्तिक (मार्गशीर्ष) कृष्णा २ दिनांक २७ नवम्बर १९३१ श्री पद्मनाभ स्वामी जैन तीर्थ, उदयपुर (राज.)
दीक्षा नाम	:	पू. मुनि श्री सुशील विजय जी म. सा.
बड़ी दीक्षा	:	वि. सं. १९८८ महासुदी पंचमी, सेरिसा तीर्थ (गुजरात)
गणिपदवी	:	वि. सं. २००७ कार्तिक (मार्गशीर्ष) कृष्णा ६ दिनांक १ दिसम्बर, १९५० वेरावल (गुजरात)
पंन्यास पदवी	:	वि. सं. २००७ वैशाख शुक्ला ३ दिनांक ६ मई १९५१ अहमदाबाद (गुजरात)
उपाध्याय पद	:	वि.सं. २०२१ माघ शुक्ला ३ दिनांक ४ फरवरी १९६५ मुंडारा (राजस्थान)
आचार्य पद	:	वि.सं. २०२१ माघ शुक्ला ५ दिनांक ६ फरवरी १९६५ मुंडारा (राजस्थान)
साहित्य	:	सर्जन करीब १५० ग्रंथ पुस्तकों का लेखन, पुस्तकों का अनुवाद, ग्रन्थों का सम्पादन
प्रतिष्ठाएँ	:	१५१ से अधिक जैन मंदिरों की प्रतिष्ठाएँ व अंजनशलाकाएँ (वि.सं. २०१७ से वि.सं. २०५७ तक)
जैन तीर्थ निर्माता	:	श्री अष्टापद जैन तीर्थ–सुशील विहार, रानी (राजस्थान)
अलंकरण	:	साहित्य रत्न, शास्त्र विशारद एवं कवि भूषण–मुंडारा (राजस्थान)
जैनधर्म दिवाकर	—	वि.सं. २०२७ जैसलमेर (राजस्थान)
मरुधर देशोद्धारक	—	वि.सं. २०२८ रानी स्टेशन (राजस्थान)
राजस्थान दीपक	—	वि.सं. २०३१ पाली–मारवाड़ (राजस्थान)
शासन रत्न	—	वि.सं. २०३१ जोधपुर (राजस्थान)
श्री जैन शासन शणगार	—	वि.सं. २०४६ मेड़ता सिटी (राजस्थान)
प्रतिष्ठा शिरोमणि	—	वि.सं. २०५० श्री नाकोड़ा जैन तीर्थ, मेवानगर (राजस्थान)
जैन शासन शिरोमणि	—	वि.सं. २०५५ पाली शहर में
पट्ट परम्परा	:	श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी परमात्मा के वर्तमान जैन शासन में इन्हीं के पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी जी महाराज की सुविहित परम्परा के ७७वें पाट पर सुशोभित तपागच्छाचार्य।

लेखक

सुमधुर प्रवचनकार
प. पू. आचार्यदेव
श्रीमद् विजय जिनोत्तम
सूरीश्वरजी म. सा.

मिताक्षरी परिचय

- माता : श्री दाड़मी बाई (वर्तमान में साध्वी श्री दिव्यप्रज्ञाश्रीजी)
- पिता : श्री उत्तमचन्दजी अमीचन्दजी मरड़ीया (प्राग्वाट)
- जन्म : जावाल सं. २०१८, चैत्र वद-६, शनिवार, २७ मार्च, १९६२
- सांसारिक नाम : जयन्तीलाल
- श्रमण नाम : पू. मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म.
- गुरुदेव : प. पू. आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय सुशीलसूरीश्वरजी म.सा.
- दीक्षा : जावाल सं. २०२८, ज्येष्ठ वद-५ रविवार १५ मई, १९७१
- बड़ी दीक्षा : उदयपुर सं. २०२८ आषाढ़ शुक्ल-१०
- गणि पद : सोजत सिटी सं. २०४६, मिगशर शुक्ल-६, सोमवार, ४ दिसम्बर १९८९
- पंन्यास पद : जावाल सं. २०४६, ज्येष्ठ शुक्ल-१०, शनिवार, २ जून १९९०
- उपाध्याय पद : कोसेलाव वि.सं. २०५३, मृगशीर्षवद-२, बुधवार, २७ नवम्बर, १९९६
- आचार्य पद : लाटाडा वि. सं. २०५३ वैशाख शुक्ल-६ १२ मई १९९७

परिवार में दीक्षित—

दादा- पू. मुनिश्री अरिहंत विजयजी म., दादी- पू. साध्वी श्री भाग्यलताश्रीजी म.
माता- पू. साध्वी श्री दीव्यप्रज्ञाश्रीजी म., भुआ- पू. साध्वी श्री स्नेहलताश्रीजी म.
भुआ- पू. साध्वी श्री भव्यगुणाश्रीजी म.

सुमधुर प्रवचनकार परम पूज्य आचार्य देव श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वर जी म. सा.

द्वारा

लिखित-सम्पादित-संकलित साहित्य

सम्राट् विक्रमादित्य
अवन्ती नरेश गंधर्वसेन के दो पुत्र थे-भर्तृहरि और विक्रमादित्य। पिता के देहान्त के बाद भर्तृहरि राजा बने विक्रमादित्य युवराज। भर्तृहरि विद्वान और न्यायप्रिय थे। छोटे भाई विक्रमादित्य से बहुत प्यार करते थे। उसकी विद्वत्ता और न्यायशीलता आदि गुणों का सम्मान करते थे।
एक दिन भर्तृहरि की रानी अनंगसेना ने कुमार विक्रमादित्य का अपमान कर दिया। विक्रमादित्य उससे दुःखी होकर बिना किसी से कुछ कहे चुपचाप घर छोड़कर वन में चले गये।
मैं यह राज्य छोड़कर दूर चला जाऊँगा।
जब भर्तृहरि को पता चला तो उसने सैनिकों को आदेश दिया।
छोटी-सी बात से नाराज होकर मेरा प्रिय भाई राज्य छोड़कर चला गया। उसकी खोज करो और मनाकर वापस लाओ।
जो आज्ञा महाराज !
सैनिकों ने बहुत प्रयत्न किये परन्तु विक्रमादित्य का कोई पता नहीं चला।

एक दिन भर्तृहरि राज्यसभा में उदास बैठे थे। तभी द्वारपाल ने सूचना दी।
महाराज ! एक गरीब ब्राह्मण आपके दर्शन करना चाहता है।
ब्राह्मण को सम्मानपूर्वक ले आओ।
ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद देते हुए एक फल भेंट किया–
हे प्रजापालक ! यह देवप्रदत्त दिव्य फल आपको भेंट करना चाहता हूँ। इस दिव्य फल को खाने वाला, सदा तरुण और स्वस्थ रहता है।
विप्रदेव, ऐसा चमत्कारी फल आपको कहाँ से मिला।
महाराज ! मैंने देवी की आराधना की थी। उसने प्रसन्न होकर मुझे यह अमर फल दिया है।
तो तुम स्वयं इसे क्यों नहीं खाना चाहते ?
महाराज ! मैं तो वैसे ही दरिद्रता से दुःखी हूँ। फिर अधिक दिन जीकर क्या करूँगा ? आप जैसा प्रजापालक राजा दीर्घजीवी होगा तो सबका भला होगा। आप इस अमर फल को स्वीकार कर कृतार्थ कीजिए।
राजा ने अमर फल लेकर बदले में ब्राह्मण को इतना धन दिया कि उसकी गरीबी मिट गई।
महाराज की जय हो !
विप्रवर ! कृपया यह धन स्वीकार कीजिये।

सायंकाल भर्तृहरि राजमहलों में आ रहे थे।
मैं इस अमर फल को खाकर क्या करूँगा। अच्छा होगा यह फल अपनी प्राणप्रिया रानी को दे दूँ।
राजमहल में पहुँचकर भर्तृहरि ने रानी से कहा–
प्रिये ! मैं तुम्हारे यौवन का फूल इसी तरह हमेशा खिला-खिला देखना चाहता हूँ। बुढ़ापा और मौत सदा तुमसे दूर रहे।
स्वामी ! आज आप यह क्या कह रहे हैं ? यौवन और जीवन किसका स्थायी रहता है ?
राजा ने अपने दुपट्टे में छिपा फल निकालकर रानी को दिया–
प्रिये ! यह अमर फल है। इसे खाने से तुम्हारा सौन्दर्य और यौवन कभी नष्ट नहीं होगा। लो खा लो........।
रानी प्रसन्न होकर बोली–
वाह स्वामी ! आपका कितना प्रेम है मुझ पर। प्रातः स्नान आदि करके खाऊँगी इसे।
दूसरे दिन प्रातः रानी फल खाने बैठती है, तभी हाथ रुक गया–
इस फल को मैं अपने प्रेमी नगर-रक्षक (कोतवाल) को दे दूँ तो वह कितना प्रसन्न होगा मुझ पर ?

दुपहर को नगर रक्षक आया। रानी ने उसे दिव्यफल देते हुए कहा–
प्रियतम ! लो यह अमर फल। इसे खाकर तुम सदा युवा बने रहोगे।
नगर रक्षक फल लेकर घर पर आया।
मैं युवा रहा और मेरी प्रेमिका बूढ़ी हो गई तो ? क्यों न यह अपनी प्रेमिका को ही खिलाऊँ ?
नगर रक्षक रात में अपनी प्रेमिका वेश्या के पास गया और बोला–
प्राण प्रिये, देखो मैं तुम्हारे लिए अमर फल लाया हूँ। उसे खाकर तुम सदा जवान और सुन्दर बनी रहोगी।
वेश्या ने अमर फल सँभाल कर रख लिया–
अगले दिन सुबह जब वह फल खाने लगी तो उसके मन में विचार आया–
मेरे भाग्य में तो ऐसा नीच धंधा ही लिखा है। इसे करते हुए ज्यादा दिन जीने से क्या फायदा है ? राजा भर्तृहरि जैसा परोपकारी इसे खायेगा तो लाखों लोगों का भला होगा। मैं इसे राजा को भेंट करूँगी।
अगले दिन वेश्या राजसभा में आई। महाराज को प्रणाम कर बोली–
प्रजापालक ! आपके दीर्घ जीवन से लाखों का भला होगा। इसलिए मैं यह अमर फल आपको भेंट करना चाहती हूँ।
हैं ! यह अमर फल इसके पास कहाँ से आया ?

राजा फटी-फटी आँखों से अमर फल देखता रहा। वेश्या घबरा गई।
अन्नदाता, क्या मुझसे कोई भूल हो गई ?
राजा ने खुद को सम्हाल लिया–
नहीं, कोई बात नहीं। यह बताओ तुम्हें यह अमर फल कैसे मिला ? किस देवता ने दिया ?
वेश्या-
पृथ्वीनाथ ! क्षमा करें, नगर रक्षक मुझसे बहुत प्रेम करता है। उसी ने यह अमर फल मुझे दिया है।
राजा सब कुछ समझ गया। उसकी कल्पना में पूरा दृश्य आ गया।
राजा ने वेश्या को बहुत-सा धन देकर विदा किया और उठकर राजमहल की वाटिका में चले गये। वृक्ष की छाया में बैठे सोचने लगे–
यह संसार कैसा विचित्र है। यहाँ कोई किसी से सच्चा प्रेम नहीं करता सब कुछ धोखा और मायाजाल है।
राजा महलों की तरफ देखकर विचार करता है–
जिस रानी पर मैं जान देता हूँ वह किसी और से प्यार करती है और रानी जिस पर आसक्त है, वह किसी दूसरे के मोहजाल में फँसा है। मैं इतने दिन प्यार में, मोह में अंधा था। आज रानी ने मेरी आँखें खोल दी हैं।

भर्तृहरि अमर फल लेकर राजमहलों में पहुँचे और पूछा—
महारानी ! मैंने जो अमर फल दिया, उसका क्या किया ?
प्राणनाथ ! उसे तो मैंने उसी दिन प्रातः खा लिया था।
राजा ने रानी को वह फल दिखाया। रानी थर-थर काँपने लगी। पसीने से भीग गई। उसकी आँखों के सामने धरती घूमने लगी।
रानी, तुम डरो मत, मैं तुम्हें कुछ नहीं कहूँगा।
यह फल तो केवल शरीर को दीर्घजीवी बनाता है, मैंने तो आत्मा की अमरता का रास्ता पा लिया। अब मैं सब कुछ त्यागकर वन में जा रहा हूँ।
और राजा ने खिड़की से फल बगीचे में फेंक दिया।
महाराज भर्तृहरि ने राजसी वस्त्र त्याग दिये। राजमहलों की सीढ़ियों से नीचे उतरने लगे। रानी पत्थर की मूर्ति बनी देखती रही। मंत्रियों आदि ने राजा को रोका—
महाराज ! हमें यों अनाथ, असहाय छोड़कर मत जाइये।
इस संसार में कोई अनाथ नहीं है और सब अनाथ हैं। सबका नाथ अपने भीतर बैठा है। मैं उसे ही पाने जा रहा हूँ। इस राज्य को आप लोग सँभालो।
राजा भर्तृहरि ने अमरफल देकर सचमुच अमरफल पा लिया। अब वे योगी भर्तृहरि बनकर वन की गुफाओं में बैठकर ध्यान, तपस्या करने लग गये।
योगी भर्तृहरि ने जो अनुभव ज्ञान प्राप्त किया, वह उनके बनाये वैराग्यशतक, नीतिशतक में आज भी संसार के लिए मार्गदर्शक है।

इधर अवन्ती से निकलकर विक्रमादित्य ने सोचा—
मुझे देशाटन भी करना है और गुप्त रहना है ताकि कोई पहचाने नहीं। इसलिए अवधूत योगी का वेष धारण कर घूमना चाहिए।
उसने अवधूत योगी का भेष बना लिया।
भ्रमण करता हुआ वह एक गाँव की चौपाल पर पहुँचा। वहाँ गाँव के बहुत से लोग बातचीत कर रहे थे। उनके बीच एक पण्डित भी बैठा था। विक्रमादित्य उनकी बातचीत सुनने लगा।
भाई! मेरे विचार से तो अवन्ती का असली उत्तराधिकारी विक्रम ही है। उसमें एक श्रेष्ठ राजा के सब गुण हैं।
भर्तृहरि बड़ा भाई है। उसके बैठे विक्रम राजा कैसे बन सकता है?
राजनीति में बड़ा-छोटा उम्र से नहीं, तेज से नापा जाता है। जो तेजस्विता विक्रम में है, वह किसी में नहीं।
यह व्यक्ति दीखने में गाँव का है, परन्तु बड़ा चतुर लगता है।
विक्रम ने उस ब्राह्मण की तरफ देखकर जोर से आवाज लगाई—
अलख निरंजन!
अरे कोई साधु महात्मा लगते हैं।

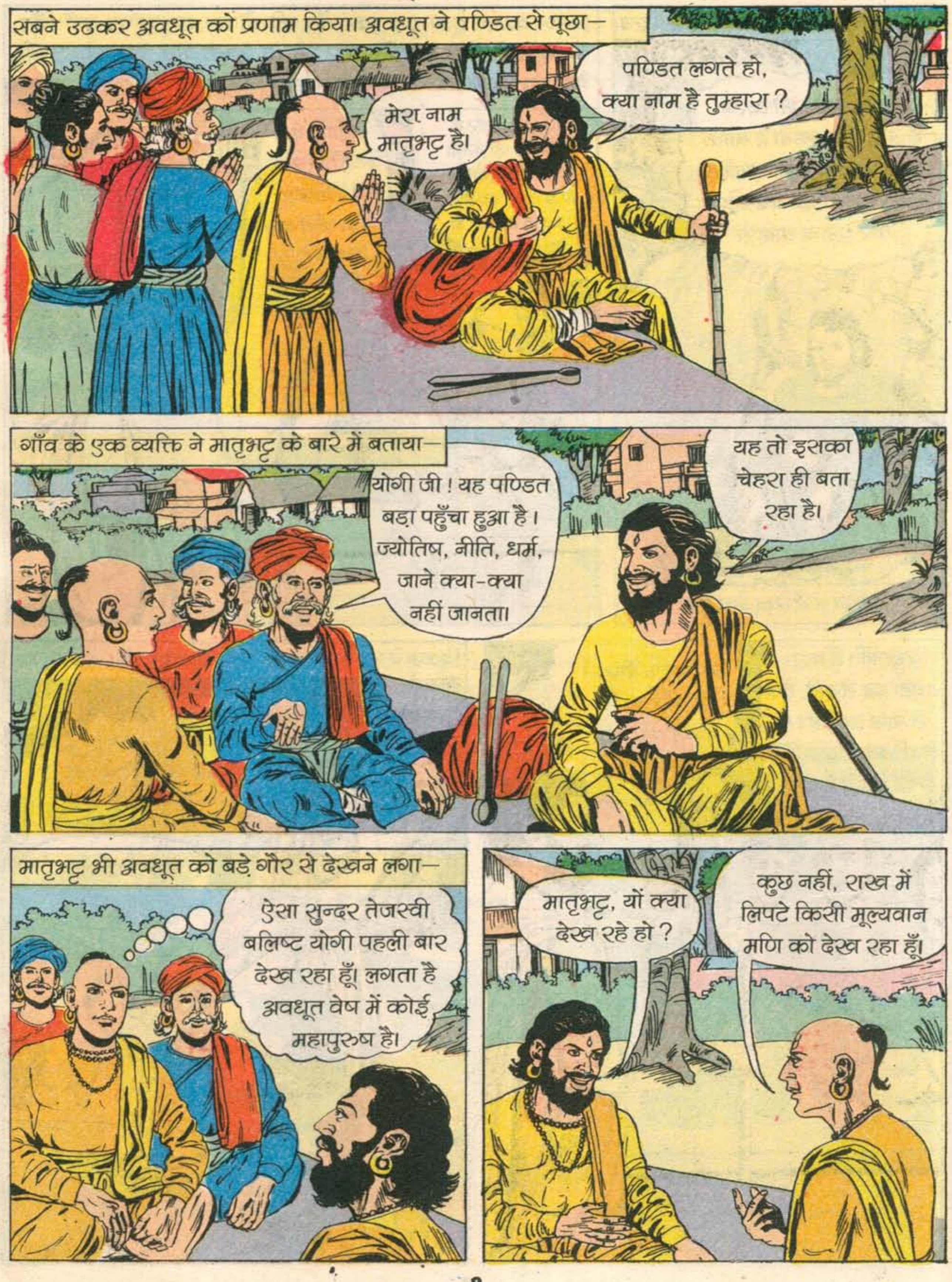
सबने उठकर अवधूत को प्रणाम किया। अवधूत ने पण्डित से पूछा–
पण्डित लगते हो, क्या नाम है तुम्हारा ?
मेरा नाम मातृभट्ट है।
गाँव के एक व्यक्ति ने मातृभट्ट के बारे में बताया–
योगी जी ! यह पण्डित बड़ा पहुँचा हुआ है। ज्योतिष, नीति, धर्म, जाने क्या-क्या नहीं जानता।
यह तो इसका चेहरा ही बता रहा है।
मातृभट्ट भी अवधूत को बड़े गौर से देखने लगा–
ऐसा सुन्दर तेजस्वी बलिष्ट योगी पहली बार देख रहा हूँ। लगता है अवधूत वेष में कोई महापुरुष है।
मातृभट्ट, यों क्या देख रहे हो ?
कुछ नहीं, राख में लिपटे किसी मूल्यवान मणि को देख रहा हूँ।

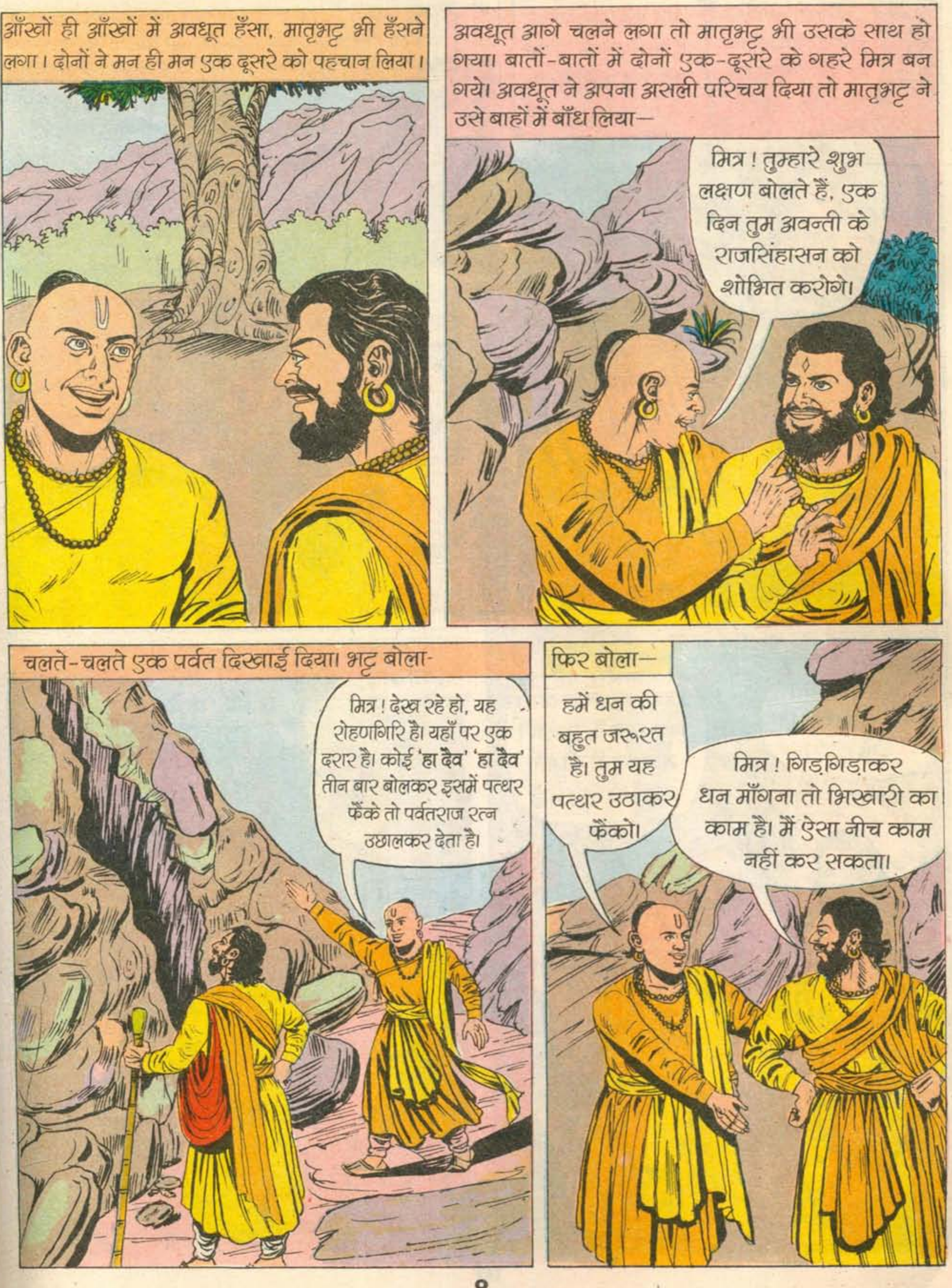
आँखों ही आँखों में अवधूत हँसा, मातृभट्ट भी हँसने लगा। दोनों ने मन ही मन एक दूसरे को पहचान लिया।
अवधूत आगे चलने लगा तो मातृभट्ट भी उसके साथ हो गया। बातों-बातों में दोनों एक-दूसरे के गहरे मित्र बन गये। अवधूत ने अपना असली परिचय दिया तो मातृभट्ट ने उसे बाहों में बाँध लिया—
मित्र ! तुम्हारे शुभ लक्षण बोलते हैं, एक दिन तुम अवन्ती के राजसिंहासन को शोभित करोगे।
चलते-चलते एक पर्वत दिखाई दिया। भट्ट बोला-
मित्र ! देख रहे हो, यह रोहणगिरि है। यहाँ पर एक दरार है। कोई 'हा दैव' 'हा दैव' तीन बार बोलकर इसमें पत्थर फैंके तो पर्वतराज रत्न उछालकर देता है।
फिर बोला—
हमें धन की बहुत जरूरत है। तुम यह पत्थर उठाकर फैंको।
मित्र ! गिड़गिड़ाकर धन माँगना तो भिखारी का काम है। मैं ऐसा नीच काम नहीं कर सकता।

विक्रम ! अभी संकट का समय है। हमें लक्ष्मी की बहुत जरूरत है।
वीर और पुरुषार्थी के पास लक्ष्मी स्वयं चलकर आती है। मैं इस पर प्रहार करके धन प्राप्त करूँगा।
यों कहकर विक्रम ने एक बड़ा पत्थर लेकर पर्वत पर मार दिया, परंतु कुछ नही निकला। तभी भट्ट रोने का नाटक करने लगा–
हाय ! यह क्या हो गया ?
विक्रम वापस भट्ट के पास आया–
भट्ट क्या बात है ? तुम क्यों रो रहे हो ?
मित्र ! यह गाँव वाला बता रहा है, तुम्हारी माता रानी श्रीमती स्वर्ग सिधार गईं।
माता की मृत्यु का समाचार सुनते ही सिर पीटते हुए विक्रम बोल पड़ा–
हा दैव ! हा दैव !!

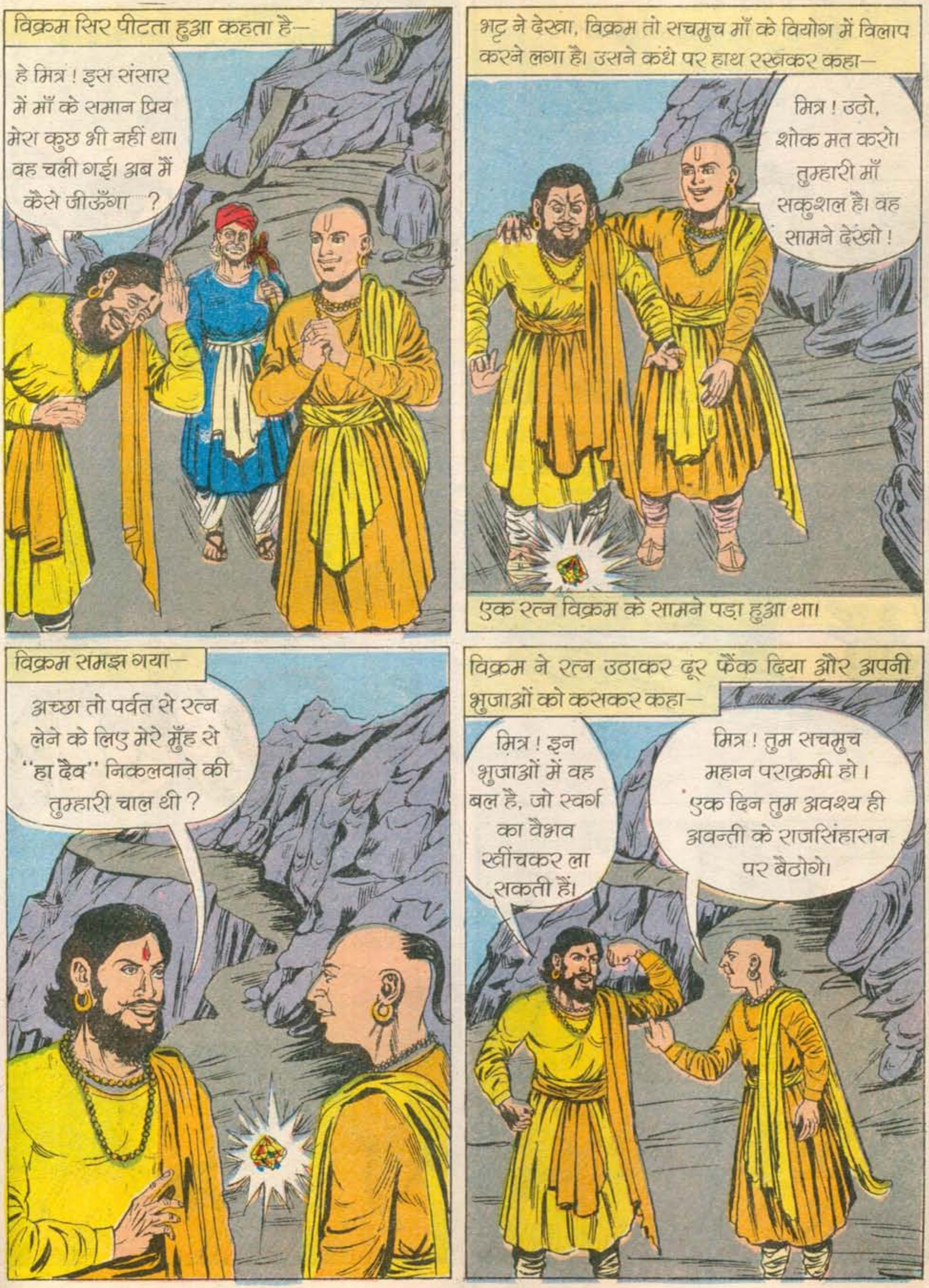
विक्रम सिर पीटता हुआ कहता है-
हे मित्र ! इस संसार में माँ के समान प्रिय मेरा कुछ भी नहीं था। वह चली गई। अब मैं कैसे जीऊँगा ... ?
भट्ट ने देखा, विक्रम तो सचमुच माँ के वियोग में विलाप करने लगा है। उसने कंधे पर हाथ रखकर कहा-
मित्र ! उठो, शोक मत करो। तुम्हारी माँ सकुशल है। वह सामने देखो !
एक रत्न विक्रम के सामने पड़ा हुआ था।
विक्रम समझ गया-
अच्छा तो पर्वत से रत्न लेने के लिए मेरे मुँह से "हा दैव" निकलवाने की तुम्हारी चाल थी ?
विक्रम ने रत्न उठाकर दूर फैंक दिया और अपनी भुजाओं को कसकर कहा-
मित्र ! इन भुजाओं में वह बल है, जो स्वर्ग का वैभव खींचकर ला सकती हैं।
मित्र ! तुम सचमुच महान पराक्रमी हो। एक दिन तुम अवश्य ही अवन्ती के राजसिंहासन पर बैठोगे।

यदि मैं राजा बना तो तुम्हारे जैसे चतुर बुद्धिमान हितैषी को मंत्री बनाऊँगा।
मित्र ! ऐश्वर्य मिलने पर लोग गरीब मित्र को भूल जाते हैं। वासुदेव श्री कृष्ण भी सुदामा को भूल गये थे।
मित्र ! यह तो समय ही बतायेगा। अभी तो चलो हमें बहुत दूर जाना है।
और दोनों मित्र आगे की यात्रा पर चल पड़े।
एक रात दोनों किसी वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे। आधी रात में एक सियारनी (शृगाली) की हूक सुनाई दी। भट्ट चौंककर खड़ा हो गया और ध्यानपूर्वक सुनता है।
विक्रम ने पूछा—
मित्र क्या हुआ।
सुना तुमने, दूर एक शृगाली बोल रही है। हमारे सामने अपार ऐश्वर्य आ रहा है।
अरे तो तुम पशुओं की बोली भी समझते हो।
हाँ ! शृगाली कह रही है, पास में तापी नदी के प्रवाह में एक नारी का शव तैरता आ रहा है। उसके शरीर पर बहुमूल्य आभूषण हैं। कोई भाग्यशाली शव को निकालकर ऐश्वर्य प्राप्त कर ले।

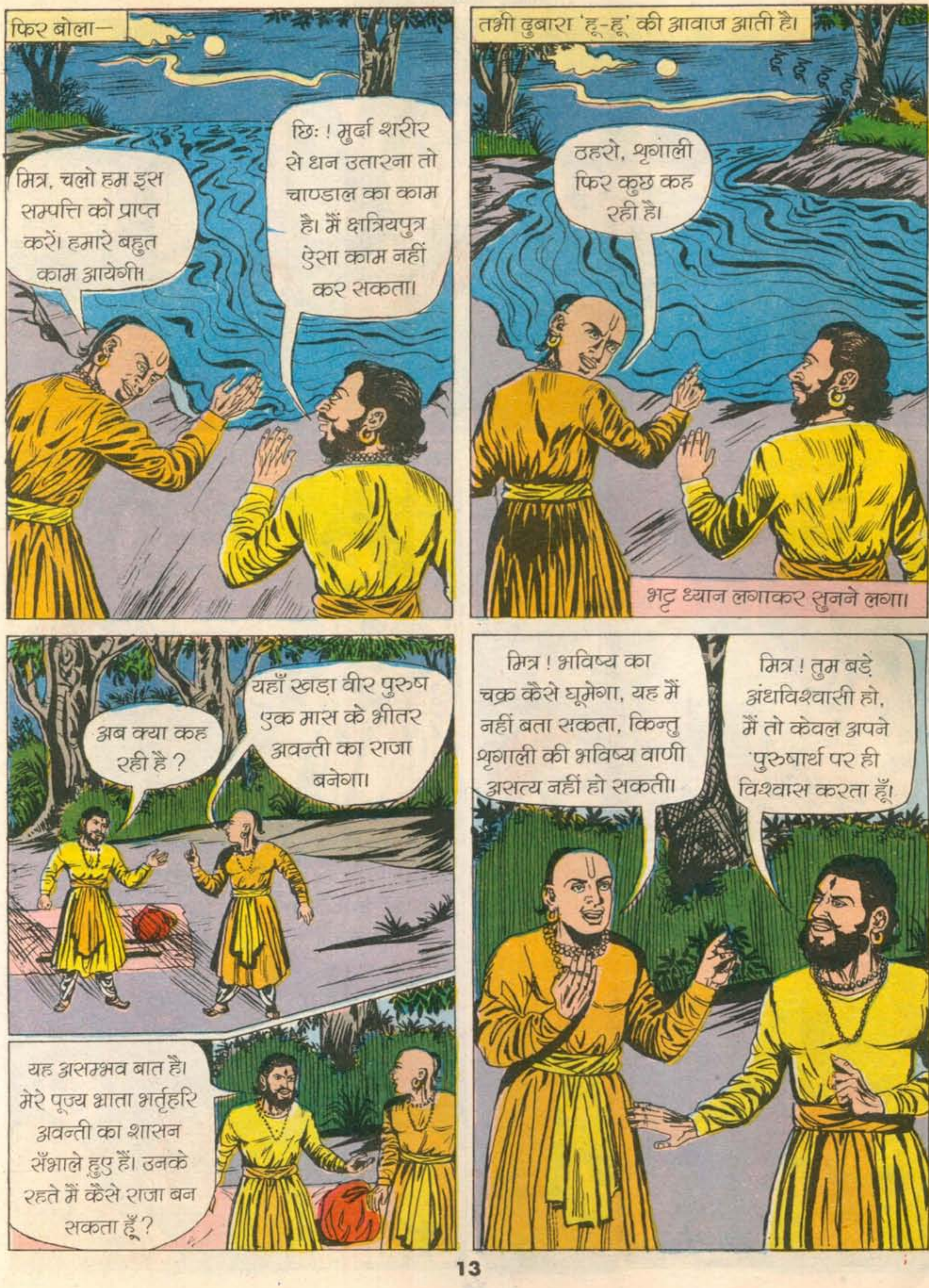
फिर बोला—
मित्र, चलो हम इस सम्पत्ति को प्राप्त करें। हमारे बहुत काम आयेगी।
छिः ! मुर्दा शरीर से धन उतारना तो चाण्डाल का काम है। मैं क्षत्रियपुत्र ऐसा काम नहीं कर सकता।
तभी दुबारा 'हू-हू' की आवाज आती है।
हू हू हू हू
ठहरो, शृगाली फिर कुछ कह रही है।
भट्ट ध्यान लगाकर सुनने लगा।
अब क्या कह रही है ?
यहाँ खड़ा वीर पुरुष एक मास के भीतर अवन्ती का राजा बनेगा।
यह असम्भव बात है। मेरे पूज्य भ्राता भर्तृहरि अवन्ती का शासन सँभाले हुए हैं। उनके रहते मैं कैसे राजा बन सकता हूँ ?
मित्र ! भविष्य का चक्र कैसे घूमेगा, यह मैं नहीं बता सकता, किन्तु शृगाली की भविष्य वाणी असत्य नहीं हो सकती।
मित्र ! तुम बड़े अंधविश्वासी हो, मैं तो केवल अपने पुरुषार्थ पर ही विश्वास करता हूँ।

सुबह उठकर दोनों एक नगर की धर्मशाला में ठहरे। एक अवधूत योगी को देखकर अनेक यात्री आकर उसके दर्शन करने लगे। बातचीत में अवन्ती से आये यात्रियों ने बताया—
आजकल अवन्ती का बड़ा बुरा हाल है।
यह क्या कह रहे हो ? वहाँ तो महाराज भर्तृहरि का राज्य है।
नहीं ! अवन्ती में तो अभी कोई राजा ही नहीं है। अवन्ती अनाथ है।
यह सुनकर अवधूत ने चौंककर पूछा—
ऐसी अशुभ बात कैसे कह रहे हो तुम महाराज भर्तृहरि ?
महाराज भर्तृहरि ने वैराग्य ले लिया। राज्य त्यागकर वे वन में तपस्या करने चले गये।
और उनका छोटा भाई विक्रम ?
विक्रमादित्य भी घर छोड़कर कहाँ चला गया, पता नहीं ?
अब अवन्ती का सिंहासन सदा ही खाली रहेगा।

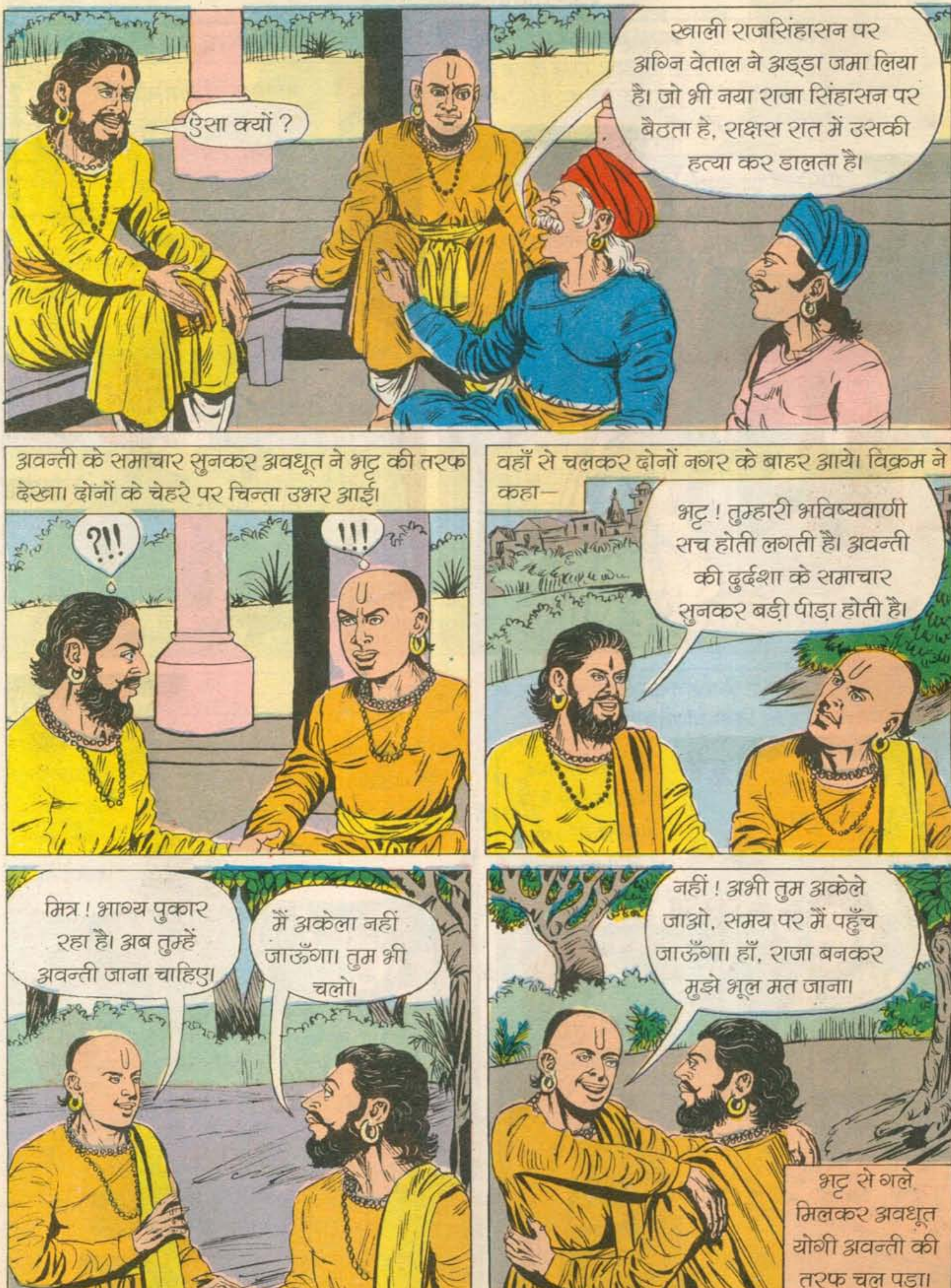
ऐसा क्यों ?
खाली राजसिंहासन पर अग्नि वेताल ने अड्डा जमा लिया है। जो भी नया राजा सिंहासन पर बैठता हे, राक्षस रात में उसकी हत्या कर डालता है।
अवन्ती के समाचार सुनकर अवधूत ने भट्ट की तरफ देखा। दोनों के चेहरे पर चिन्ता उभर आई।
?!!
!!!
वहाँ से चलकर दोनों नगर के बाहर आये। विक्रम ने कहा—
भट्ट ! तुम्हारी भविष्यवाणी सच होती लगती है। अवन्ती की दुर्दशा के समाचार सुनकर बड़ी पीड़ा होती है।
मित्र ! भाग्य पुकार रहा है। अब तुम्हें अवन्ती जाना चाहिए।
मैं अकेला नहीं जाऊँगा। तुम भी चलो।
नहीं ! अभी तुम अकेले जाओ, समय पर मैं पहुँच जाऊँगा। हाँ, राजा बनकर मुझे भूल मत जाना।
भट्ट से गले मिलकर अवधूत योगी अवन्ती की तरफ चल पड़ा।

अवन्ती के बाहर क्षिप्रा नदी के तट पर अवधूत योगी धूनी रमाकर बैठ गया। जो भी नदी तट पर आता, योगी को देखकर प्रणाम करता और उसके प्रवचन सुनता। योगी की वाणी सुनने व सत्संग करने धीरे-धीरे सैकड़ों-हजारों लोगों की भीड़ जमने लगी।
प्रणाम! महाराज आपकी वाणी सुनकर मेरे जीवन में उजाला हो गया।
वत्स! हमारा काम ही लोगों का कल्याण करना है।
एक दिन महामंत्री बुद्धिसागर को दूत ने सूचना दी—
मंत्रीश्वर! क्षिप्रा नदी के तट पर एक योगी आया है। उसका क्या तेज है, क्या वाणी में ओज है। बड़ा ही चमत्कारी पुरुष है।
अच्छा, तब तो हमें भी उसके दर्शन के लिए जाना चाहिए।
महामंत्री अकेला ही योगी के दर्शन करने पहुँचा। विक्रम ने उसे पहचान लिया। बिना परिचय लिए ही बोला—
आओ मंत्री बुद्धिसागर।
हैं! योगी मेरा नाम जानता है? अवश्य योगबल से मेरी चिन्ता भी जानता होगा?
अवधूत ने फिर कहा—
मंत्रीश्वर! तुम राज्य की किसी विकट चिन्ता से ग्रस्त लगते हो? अवन्ती के सिंहासन पर किसी दुष्टशक्ति ने घात लगा रखी है! सच है?
योगीराज! आप तो महाज्ञानी हैं। सब कुछ जानते हैं।

फिर भी तुम मन की बात कहो।
आप तो ज्ञानी हैं, सब जानते हैं। महाराज भर्तृहरि ने वैराग्य धारण कर लिया। राजकुमार विक्रमादित्य चुपचाप चले गये।
तुमने विक्रम की खोज कराई ?
धरती का चप्पा-चप्पा छान लिया। राजकुमार विक्रम का कहीं पता नहीं चला।
तो किसी दूसरे क्षत्रियपुत्र को राजा नहीं बनाया ?
हमने इसी वंश के श्रीपति नामक क्षत्रियपुत्र को राजसिंहासन पर बैठाया। दिन भर उत्सव चला। रात में राजा महलों में सोने के लिए गये। प्रातः जब महल का दरवाजा खोला तो उनका शव मिला।
उसे किसने मारा ?
तुमने फिर कोई दूसरा राजा नहीं बनाया।
खाली राजसिंहासन पर 'अग्नि वेताल नामक एक दुष्ट राक्षस ने अधिकार कर लिया है। रात के समय वह महलों में आता है। उपद्रव मचाता है और किसी को राजसिंहासन पर बैठने नहीं देता।

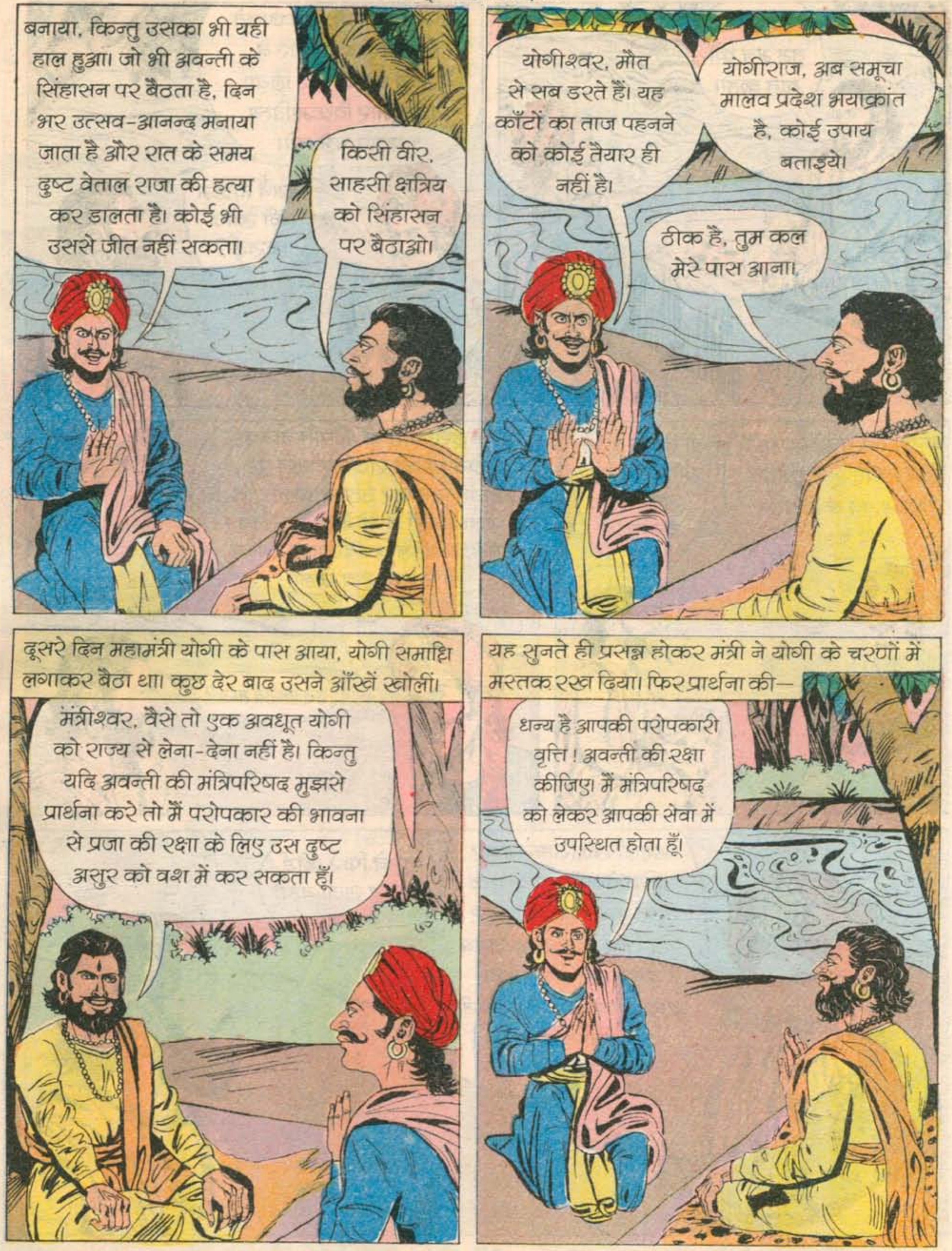
बनाया, किन्तु उसका भी यही हाल हुआ। जो भी अवन्ती के सिंहासन पर बैठता है, दिन भर उत्सव-आनन्द मनाया जाता है और रात के समय दुष्ट वेताल राजा की हत्या कर डालता है। कोई भी उससे जीत नहीं सकता।
किसी वीर, साहसी क्षत्रिय को सिंहासन पर बैठाओ।
योगीश्वर, मौत से सब डरते हैं। यह काँटों का ताज पहनने को कोई तैयार ही नहीं है।
योगीराज, अब समूचा मालव प्रदेश भयाक्रांत है, कोई उपाय बताइये।
ठीक है, तुम कल मेरे पास आना।
दूसरे दिन महामंत्री योगी के पास आया, योगी समाधि लगाकर बैठा था। कुछ देर बाद उसने आँखें खोलीं।
मंत्रीश्वर, वैसे तो एक अवधूत योगी को राज्य से लेना-देना नहीं है। किन्तु यदि अवन्ती की मंत्रिपरिषद मुझसे प्रार्थना करे तो मैं परोपकार की भावना से प्रजा की रक्षा के लिए उस दुष्ट असुर को वश में कर सकता हूँ।
यह सुनते ही प्रसन्न होकर मंत्री ने योगी के चरणों में मस्तक रख दिया। फिर प्रार्थना की—
धन्य है आपकी परोपकारी वृत्ति ! अवन्ती की रक्षा कीजिए। मैं मंत्रिपरिषद को लेकर आपकी सेवा में उपस्थित होता हूँ।

अगले दिन मंत्री बुद्धिसागर मंत्री परिषद को लेकर अवधूत योगी के पास आया। सभी मंत्रियों ने योगी से अवन्ती की रक्षा की प्रार्थना की। योगी ने कहा—
मेरी दो शर्तें हैं—१. मैं योगी वेष में ही राजसिंहासन पर बैठकर राज्य की रक्षा करूँगा। २. जिस दिन विक्रमादित्य मिल जायेगा, यह राज्य उसी को सौंपकर मैं चला जाऊँगा।
हमें स्वीकार है।
दूसरे दिन राज्यतिलक समारोह मनाया गया। अवधूत योगी को राजसिंहासन पर बैठाया गया। लोग चर्चा करने लगे—
देखो भाग्य की विडम्बना, एक राजा तो राज्य त्यागकर योगी बन गया और दूसरा योगी राजा बन रहा है।
संध्या होने पर योगी क्षिप्रा तट पर अपनी कुटिया में जाकर सो गया।
दिन में अवधूत योगी राजसभा में बैठकर प्रजा के सुख-दुःख सुनता। न्याय करता और मंत्रि परिषद से विचार चर्चा करता, संध्या होने पर अपनी कुटिया में जाकर सो जाता। एक दिन मंत्रियों ने मिलकर प्रार्थना की—
योगीराज ! अवन्ती का शासक कुटिया में अकेला सोये यह अच्छा नहीं लगता। आप रात में राजमहलों में ही निवास कीजिए।
ठीक है, जैसी तुम्हारी इच्छा।
अगले दिन सन्ध्या होते ही राजा ने आदेश दिया—
मैं राजमहल में ही रुक जाता हूँ। योगी के लिए राजमहल और कुटिया एक बराबर है।
मेरे शयनकक्ष से लेकर नगर के प्रवेश द्वार तक पूरे मार्ग को सजा दो।
जो आज्ञा महाराज।
तुरन्त आदेश का पालन हुआ। पूरे रास्ते पर सुगंधित जल छिड़का गया। फूल बिछाये। अगरबत्तियाँ जलाईं, स्थान-स्थान पर फल-मेवा-मिष्ठान्न के थाल भरकर रख दिये।

समूचा राजमहल दीवाली की तरह सजा दिया गया। रात को अवधूत योगी अकेला ही शयनकक्ष में जाकर सो गया।
राजमहल के बाहर चारों तरफ खुली तलवार लिए सैनिक पहरा देने लगे।
आधी रात के समय एक भयंकर हुँकार हुई। सब लोग काँप गये। फिर धुँए का गुब्बारा राजमहल पर छा गया।
भागो लगता है अग्नि वेताल आ गया।
भागो !
जान बचाओ !
हुँकारता-फुँकारता असुर अग्नि वेताल महल में आया और सीधा राजा के शयनकक्ष में घुस गया।
हा हा आज बहुत दिन बाद मानव रक्त से प्यास बुझेगी।

अवधूत राजा असुर का इन्तजार ही कर रहा था, वह उठकर बैठ गया और बोला—
हे असुरराज ! तुम्हारी भूख शान्त करने के लिए महल के बाहर इतना बलि भोज तैयार रखा था, क्या इससे तृप्त नहीं हुए ?
नहीं ! मैं तो तेरी बलि लेकर ही तृप्त होऊँगा।
यह सुनकर अवधूत ने भी तलवार निकाल ली।
तेरी यही इच्छा है तो चल, सावधान ! मेरी तलवार का प्रहार झेलने को तैयार हो जा।
वेताल और अवधूत में काफी देर तक घमासान तलवार बाजी होती रही, धीरे-धीरे वेताल कमजोर पड़ने लगा—
ऐसा वीर साहसी पहली बार आया है। यह कहीं मुझे ही नहीं मार दे।
ले दुष्ट मजा चख !
वेताल अवधूत के वारों से घबराने लगा। कुछ ही देर में वह बोला
रुको मित्र ! तुम वास्तव में महापराक्रमी हो। मैं तो तुम्हारी परीक्षा ले रहा था।
ठीक है, यदि तू मित्रता ही करना चाहता है तो मेरा हाथ मित्रता के लिए तैयार है।

वेताल ने उसे बताया—
मैं अग्नि वेताल असुर अवन्ती राज्य का रक्षक हूँ। तुम निश्चिन्त होकर प्रजा का पालन करो। मुझे इसी प्रकार नित्य बलि भोज देते रहो।
वेताल और अवधूत में रात भर बातें होती रहीं।
प्रातः अवधूत उठकर बाहर आया। लोगों ने उसे सही सलामत देखा तो आश्चर्य से भर गये और उसकी प्रशंसा करने लगे।
यह अवधूत योगी तो विद्यासिद्ध महापराक्रमी हैं।
हाँ, तभी तो अग्नि वेताल जैसा राक्षस भी इनका कुछ नहीं बिगाड़ सका।
महाराज अवधूत की जय !
अब प्रतिदिन संध्या के समय नगर द्वार से राजमहल तक असुर के स्वागत में सुगंधित द्रव्य, फूल, मेवा, मिष्ठान्न रखा जाता।
जल्दी करो भाई, रात होने वाली है। वेताल आने वाले होगा।
हाँ भाई, वेताल के स्वागत के लिए सब सामग्री तो रखनी ही पड़ेगी। नहीं तो वह नाराज हो जायेगा।
वेताल प्रतिदिन आता और भोज्य सामग्री से तृप्त होकर चला जाता।
एक बार अवधूत ने वेताल से पूछा—
मित्र ! यह बताओ, मेरी आयु कितनी है ?
पूरे सौ वर्ष की है।

लिखकर बताओ।
वेताल ने लिखा। उसे देखकर विक्रम ने कहा–
मित्र! एक के अंक पर दो शून्य अच्छे नहीं लगते। इसे या तो ९९ करो या १०१।
वेताल ने अट्टहास लगाया–
हा-हा! राजन्! यह तो असम्भव है। इन्द्र में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि किसी की आयु का एक क्षण घटा सकें या बढ़ा सकें। फिर मेरी क्या ताकत है?
सच! यह बात है, तो फिर तुमने इतने राजाओं को कैसे मारा?
मैंने किसी को भी नहीं मारा। सच तो यह है कि मेरी हुँकार सुनकर ही भय से उनके प्राण निकल गये।
अवधूत राजा और वेताल बातें करते हुए महल के उद्यान में आ गये।
कोई बात नहीं। हम दोनों मित्र मिलकर बेमिल बावन वीर हो गये न? चलो यही सही।
रात के अन्तिम प्रहर में वेताल चला गया। अवधूत वापस आकर सुख की नींद सो गया।

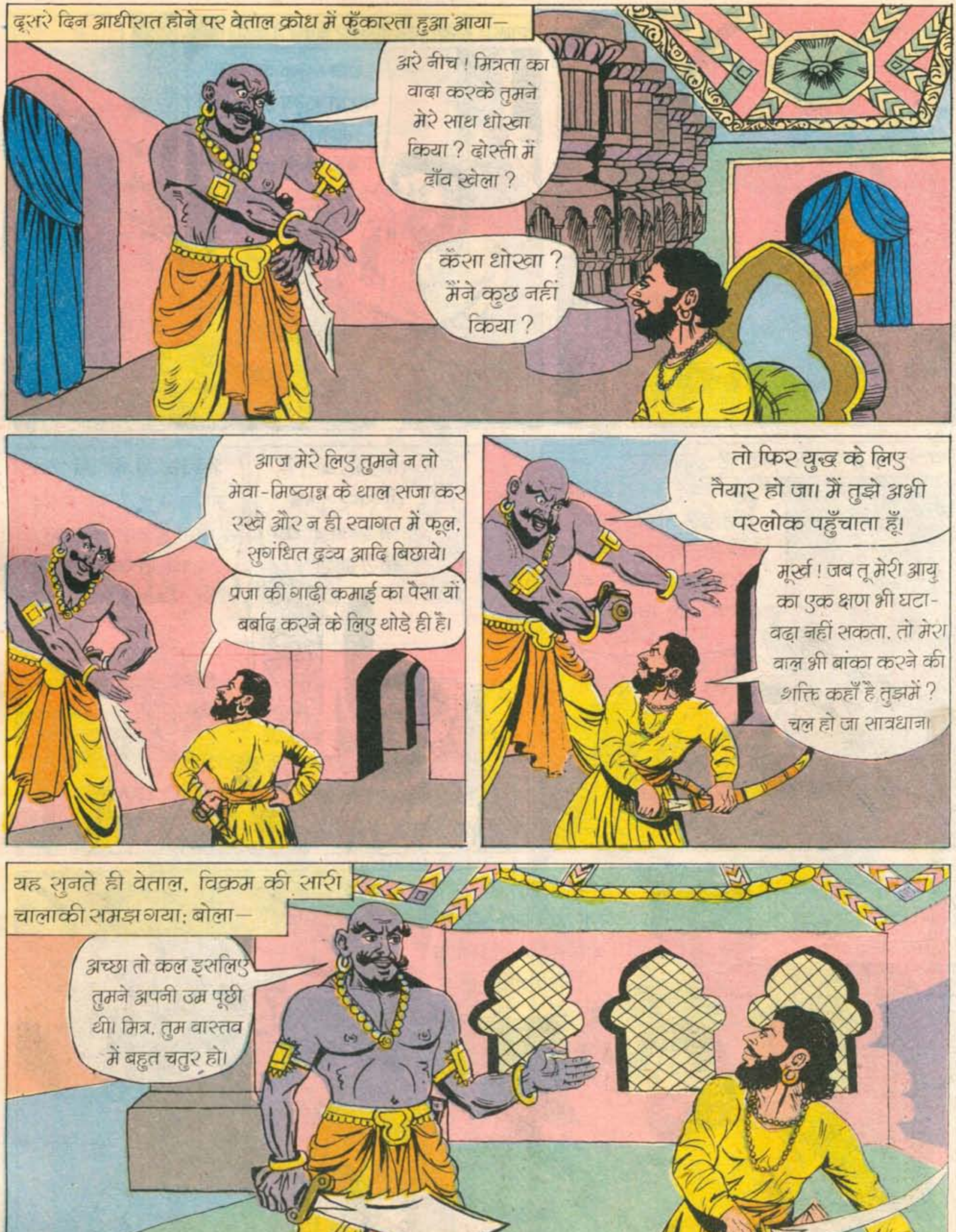
दूसरे दिन आधीरात होने पर वेताल क्रोध में फुँकारता हुआ आया—
अरे नीच ! मित्रता का वादा करके तुमने मेरे साथ धोखा किया ? दोस्ती में दाँव खेला ?
कैसा धोखा ? मैंने कुछ नहीं किया ?
आज मेरे लिए तुमने न तो मेवा-मिष्ठान्न के थाल सजा कर रखे और न ही स्वागत में फूल, सुगंधित द्रव्य आदि बिछाये।
प्रजा की गाढ़ी कमाई का पैसा यों बर्बाद करने के लिए थोड़े ही है।
तो फिर युद्ध के लिए तैयार हो जा। मैं तुझे अभी परलोक पहुँचाता हूँ।
मूर्ख ! जब तू मेरी आयु का एक क्षण भी घटा-बढ़ा नहीं सकता, तो मेरा बाल भी बांका करने की शक्ति कहाँ है तुझमें ? चल हो जा सावधान।
यह सुनते ही वेताल, विक्रम की सारी चालाकी समझ गया; बोला—
अच्छा तो कल इसलिए तुमने अपनी उम्र पूछी थी। मित्र, तुम वास्तव में बहुत चतुर हो।

वेताल ने कहा–
मित्र ! मैं तुम्हारे साहस और चतुरता के सामने हार गया। तुमसे मित्रता करके मुझे प्रसन्नता होगी। आज से हम बराबरी के मित्र हैं।
मित्र ! मुझ पर प्रसन्न हो तो वचन दो। अपनी मित्रता कभी नहीं टूटेगी। मैं जब भी तुझे याद करूँ तुरन्त आकर मेरा काम करोगे।
तथास्तु ! अब मैं जाता हूँ। जब तुम मुझे बुलाओगे मैं तभी आऊँगा।
यह कहकर वेताल चला गया।
अवधूत वेषी राजा विक्रमादित्य दिन-रात प्रजा की भलाई में लगे रहते। उनकी अद्भुत न्यायप्रियता, नीतिमत्ता, विद्वत्ता और पराक्रम की दूर-दूर तक चर्चा थी।
भाई ! अवधूत राजा ने तो हमारे सब आँसू पोंछ दिये। घर-घर चैन की बंसी बज रही है।
हाँ भाई ! बहुत ही नीतिवान राजा है। प्रजा को पुत्र की तरह स्नेह करता है।
एक दिन महामंत्री ने अवधूत राजा से कहा–
हे योगीराज ! अवन्ती की प्रजा के लिए आप जो कर रहे हैं, वह सचमुच अद्वितीय है। अब हमारी एक इच्छा और है:
अब आप क्या चाहते हैं ?

हाँ-हाँ योगीराज, राजसिंहासन की शोभा के लिए इतनी कृपा अवश्य कीजिए।
यह अवधूत वेष त्यागकर राजा के योग्य वस्त्र धारण कीजिए।
आप लोगों की जैसी इच्छा।
दूसरे दिन-अवधूत ने राजसी वस्त्र-आभूषण पहनकर राजमुकुट धारण किया। राज्य में सर्वत्र उत्सव मनाया गया।
अवन्ती के मित्र राजा भेंट, उपहार लेकर बधाई देने आये।
एक दिन मातृभट्ट को किसी ने बताया—
अवन्ती में एक अवधूत योगी का राजतिलक समारोह हो रहा है।
अच्छा! तब तो मुझे अवन्ती जाना ही पड़ेगा।

राजा को बधाई देने के लिए भट्ट अवन्ती आया। मित्र को आता देखकर अवधूत राजा ने उठकर उसे गले से लगा लिया–
बधाई हो मित्र !
आओ भट्ट तुम्हारा स्वागत हैं।
विक्रमादित्य ने मातृभट्ट का परिचय कराया–
यह मेरा परम हितैषी मित्र है। राजनीति, धर्म, ज्योतिष आदि अनेक विद्याओं का ज्ञाता महान बुद्धिमान विद्वान है।
मातृभट्ट ने मंत्री परिषद से कहा–
सभासदों, प्रजाजनो ! आपके राजा अवधूतराज के नाम से प्रसिद्ध हैं। जानते हो यह कौन हैं ?
अवधूत योगी !
नहीं ! ये महाराज गंधर्वसेन के पुत्र राजा भर्तृहरि के छोटे भाई विक्रमादित्य हैं।
क्या विक्रमादित्य ?
तभी तो इतने पराक्रमी हैं।

राजदरबार में लोग हर्ष से झूम-झूमकर उछलने लगे–
महाराज विक्रमादित्य की जय।
राजमाता श्रीमती ने यह समाचार सुना–
रानी माँ ! अवधूत राजा और कोई नहीं आपके पुत्र विक्रम ही हैं।
मुझे जल्दी विक्रम के पास ले चलो।
राजमाता दरबार में शीघ्रता से पहुँची। विक्रमादित्य माता के चरणों में गिरा। माता ने उसे छाती से लगा लिया। दोनों की आँखों में प्रेम के आँसू छलछला उठे।
माँ ने पुत्र का ललाट चूमते हुए कहा–
विक्रम ! अब तू बहुत बदल गया है रे ! मुझे कितना तरसाया है तुमने ?
नहीं माँ ! मैं आज भी तुम्हारा वही विक्रम हूँ जिसे तुम गोद में लिए घूमती थीं। हाथ से खिलाती थीं। मैं जहाँ भी रहा, तुमको सदा याद करता रहा।

फिर विक्रम ने माता का आशीर्वाद लेते हुए कहा—
माँ ! मैं तुम्हारे आशीर्वाद का प्रसाद मानकर ही इस राज्य का पालन करता रहूँगा।
इसके बाद विक्रम ने अपने वचन को याद करके घोषणा की—
महामंत्री बुद्धिसागर इस राज्य के महामात्य हैं, किन्तु वे वृद्ध हो गये हैं। इसलिए मेरे युवा मित्र भट्ट को द्वितीय महामात्य बनाता हूँ। यह मेरे संकट के दिनों का सच्चा साथी, सहयोगी और सलाहकार है।
राजा विक्रम चिरायु हों।
महामात्य मातृभट्ट की जय !
महामात्य मातृभट्ट और तेजस्वी राजा विक्रमदित्य की छत्र छाया में अवन्ती की प्रजा धन-धान्य से सुखी समृद्ध होने लगी। एक दिन मातृभट्ट कुछ प्रमुख व्यक्तियों के साथ विक्रमदित्य के पास आया—
अहो ! आज क्या बात है ? आप सब मिलकर क्या शिकायत लाये हैं ?
महाराज ! शिकायत भी है और प्रार्थना भी।
महाराज ! अभी तक महारानी का सिंहासन खाली है। यह आसन भी सुशोभित हो तो प्रजा की खुशियों में चार चाँद लग जायेंगे।
तो आप मुझे दो पाये से चौपाया बनाना चाहते हैं !!
सभी खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं।

फिर विक्रम ने भट्ट से पूछा-
अवन्ती के राजसिंहासन के योग्य शील-गुण सम्पन्न कन्या कोई देखी है आपने ?
हाँ महाराज ! मैं और मंत्री बुद्धिसागरजी देखकर आये हैं। लक्ष्मीपुर नरेश वैरीसिंह की कन्या कमलावती आपके लिए सर्वथा योग्य है। देखिए ।
राजा चित्र को ध्यान से देखता है।
हूँ ! चित्र से तो कन्या धीर, गम्भीर अवन्ती की रानी बनने योग्य लगती है।
विक्रमादित्य ने अपनी स्वीकृति दे दी।
मुझे आप सबका निर्णय स्वीकार है।
महाराज की जय हो ।
शुभ मुहूर्त में राजा विक्रमादित्य और कमलावती का पाणिग्रहण सम्पन्न हो गया।
इसके बाद अनेक राजाओं ने अपनी-अपनी कन्याएँ देकर विक्रमादित्य के साथ घनिष्ट सम्बन्ध जोड़ लिए। कमलावती पट्टरानी बनी।

एक दिन उद्यान में क्रीड़ा करते हुए अचानक विक्रमादित्य को बड़े भाई राजा भर्तृहरि की याद आ गई। वे याद में खो गये।
नाथ ! क्या बात है। अचानक आप उदास क्यों हो गये ?
ज्येष्ठ बंधु भर्तृहरि की याद आ गई। वे कहाँ होंगे ? कैसे होंगे ? उनसे मिलने को मन बेचैन है।
स्वामी ! अपने मित्र अग्नि वेताल से पूछ लीजिए ना। वह तो सब कुछ जानते हैं।
राजा ने वेताल का स्मरण किया—
कहो स्वामी ! क्या आज्ञा है ?
हमारे योगी बंधु भर्तृहरि, कहाँ हैं ? मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ।
अग्नि वेताल दो मिनट आँख मूँदता है। फिर बोला—
सुदूर पर्वत की गुफा में घोर तपस्या में लीन हैं। आप चाहें तो मेरे कंधे पर बैठ जायें, अभी ले चलता हूँ
ठीक है। चलो।
वेताल विक्रम को कंधे पर बैठाकर गुफा की ओर चल दिया—

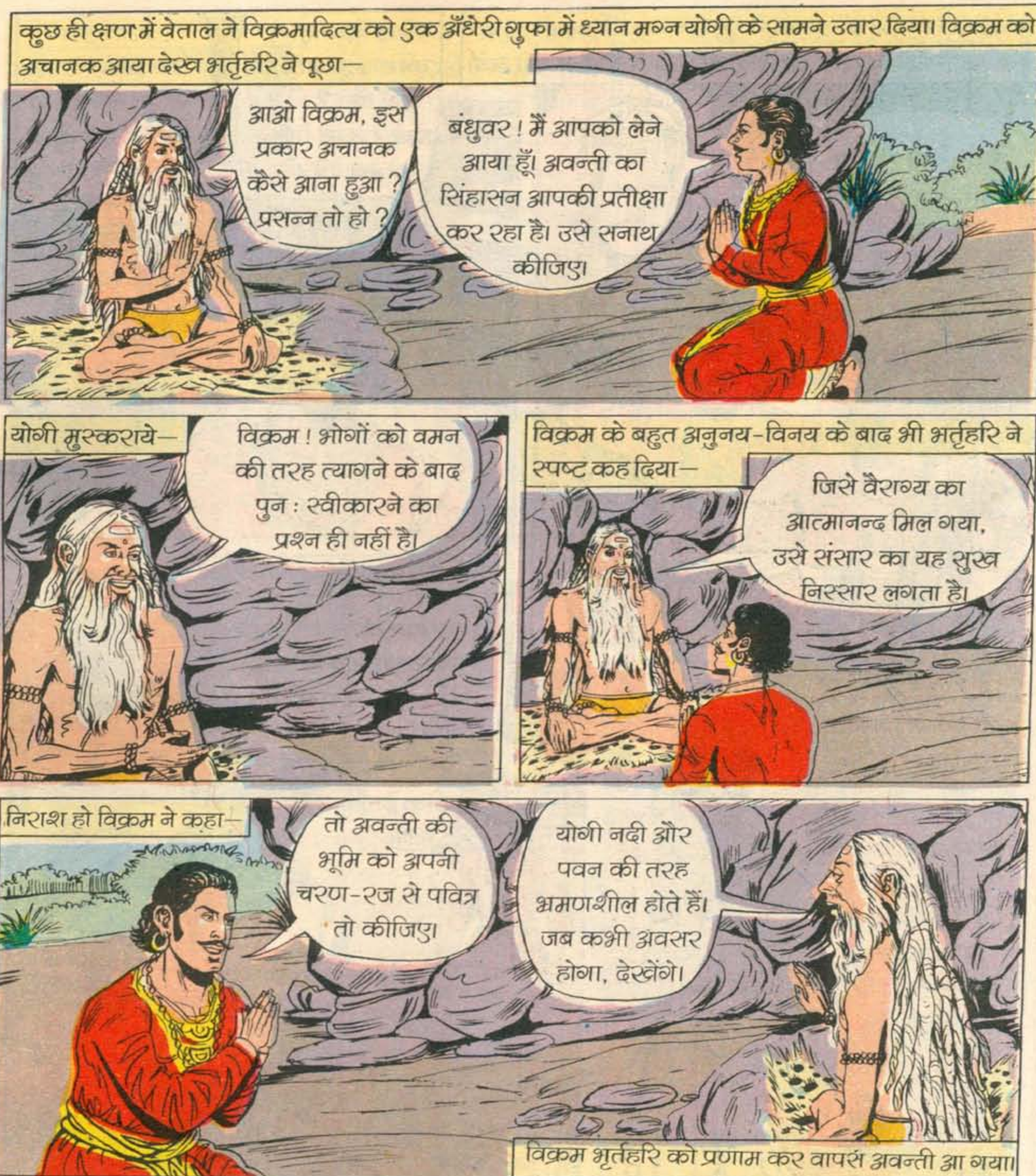

भ्रमण करते हुए एक दिन महाराज भर्तृहरि अवन्ती में आये। प्रजा ने उनके दर्शन किये। उपदेश सुना। राजा विक्रमादित्य ने योगी राज को अवन्ती में ही स्थायी निवास करने की प्रार्थना की। योगी भर्तृहरि ने कहा–राजन् ! नदी के भांति संतों साधकों का जीवन भी परोपकार के लिए गतिशील रहता है। योगीराज राजा व प्रजा को नीति व धर्म की शिक्षाएँ देकर पुन : जंगल की ओर लौट गये।

अवन्ति का राजसिंहासन संभालते ही महाराज विक्रमादित्य ने सर्वप्रथम प्रजा के कल्याण कार्यों, कला, साहित्य और व्यापार की उन्नति से सम्बन्धित योजनायें बनाईं। प्रजा का अज्ञान और गरीबी मिटाने के लिये धन की कोई कमी न ही रखी। कुछ ही समय में अवन्ति एक समृद्ध राज्य बन गया।
एक दिन राजा विक्रमादित्य राजसभा में बैठे थे। तभी एक योगी ने सभा में प्रवेश किया।
राज राजेश्वर की जय हो !
राजा ने योगी का स्वागत किया।
पधारिये योगीराज ! आपका स्वागत है।
महाराज ! आपके लिए यह रत्न-फल लाया हूँ।
योगी फल भेंट करके चला गया।
राजा ने मंत्री बुद्धिसागर से पूछा–
यह योगी कौन था ?
महाराज ! इनके विषय में अधिक तो ज्ञात नहीं है, परन्तु सुना है तंत्र-विद्या साधक यह योगी क्षिप्रा नदी के तट पर रहता है।
योगी प्रतिदिन आता और नियत समय पर फल भेंट करके चला जाता। एक दिन योगी ने फल भेंट किया तभी एक बन्दर अचानक झपटा और फल उठाकर ले भागा।
अरे ! पकड़ो इसे यह अन्दर कैसे आ गया ?

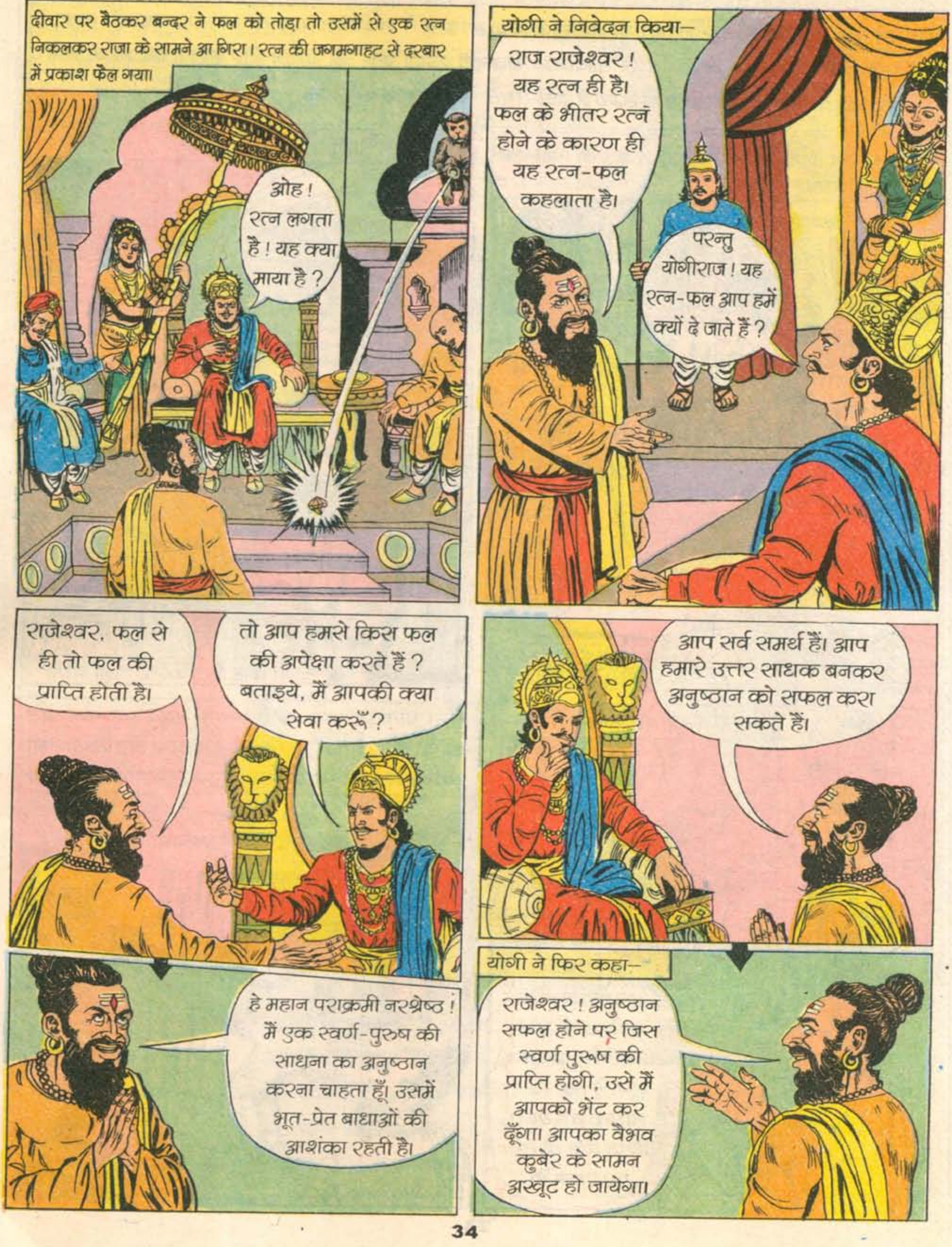

दीवार पर बैठकर बन्दर ने फल को तोड़ा तो उसमें से एक रत्न निकलकर राजा के सामने आ गिरा। रत्न की जगमगाहट से दरबार में प्रकाश फैल गया।
ओह! रत्न लगता है! यह क्या माया है?
योगी ने निवेदन किया–
राज राजेश्वर! यह रत्न ही है। फल के भीतर रत्न होने के कारण ही यह रत्न-फल कहलाता है।
परन्तु योगीराज! यह रत्न-फल आप हमें क्यों दे जाते हैं?
राजेश्वर, फल से ही तो फल की प्राप्ति होती है।
तो आप हमसे किस फल की अपेक्षा करते हैं? बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?
आप सर्व समर्थ हैं। आप हमारे उत्तर साधक बनकर अनुष्ठान को सफल करा सकते हैं।
हे महान पराक्रमी नरश्रेष्ठ! मैं एक स्वर्ण-पुरुष की साधना का अनुष्ठान करना चाहता हूँ। उसमें भूत-प्रेत बाधाओं की आशंका रहती है।
योगी ने फिर कहा–
राजेश्वर! अनुष्ठान सफल होने पर जिस स्वर्ण पुरूष की प्राप्ति होगी, उसे मैं आपको भेंट कर दूँगा। आपका वैभव कुबेर के सामन अखूट हो जायेगा।

राजा सोचने लगा—
बड़ा अद्भुत है यह योगी। स्वर्ण पुरुष की प्राप्ति होने पर तो हम उस धन से प्रजा के सभी कष्ट दूर कर सकते हैं।
महाराज ! आप जैसा पराक्रमी वीर इस पृथ्वी पर दूसरा नहीं है। आपकी सहायता से मेरा कार्य सिद्ध हो सकता है।
राजा ने योगी को सहायता देने का वचन दे दिया।
योगी ने कहा—
महाराज ! इस कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात को आप स्वच्छ वस्त्र पहनकर महल के बाहर खड़े रहें। मेरा काला घोड़ा द्वार पर आयेगा और आपको निश्चित स्थान पर पहुँचा देगा। ध्यान रहे, आपके साथ दूसरा कोई भी नहीं आयेगा, अन्यथा अनुष्ठान में विघ्न पड़ सकता है।
योगी समझाकर चला गया।
सायंकाल राजा महलों की छत पर घूम रहे थे तभी अग्नि वेताल प्रकट हुआ।
महाराज ! आपने योगी को सहायता का वचन क्यों दिया ? वह बड़ा धूर्त और पाखण्डी है।
हमारे साथ क्या पाखण्ड कर सकता है वह ?
इस अनुष्ठान में उसे एक बत्तीस लक्षणों वाले पुरुष की आहुति देनी है।
ओह ! तो ! इसलिए मुझे बुला रहा है ?

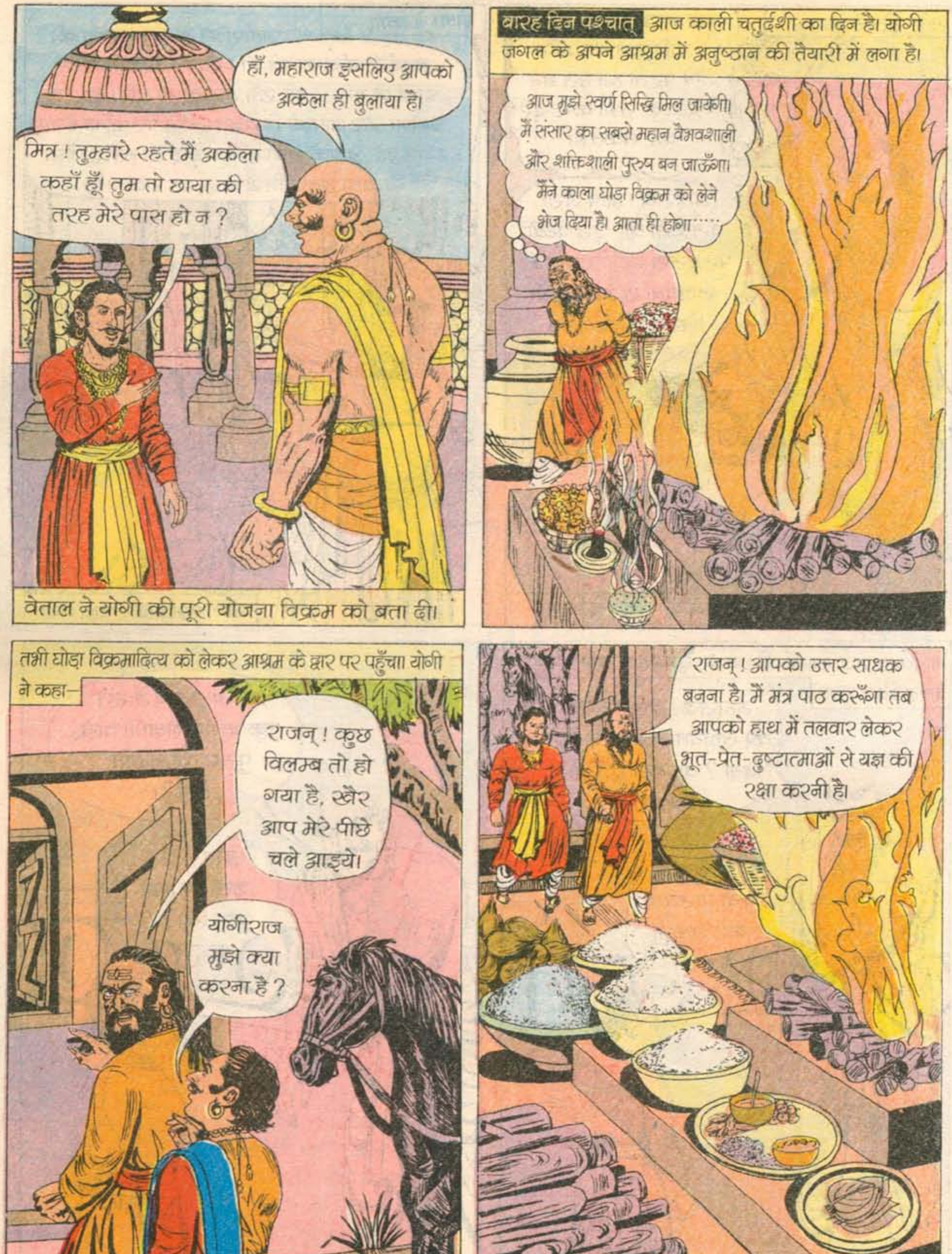
हाँ, महाराज इसलिए आपको अकेला ही बुलाया है।
मित्र ! तुम्हारे रहते मैं अकेला कहाँ हूँ। तुम तो छाया की तरह मेरे पास हो न ?
वेताल ने योगी की पूरी योजना विक्रम को बता दी।
बारह दिन पश्चात् आज काली चतुर्दशी का दिन है। योगी जंगल के अपने आश्रम में अनुष्ठान की तैयारी में लगा है।
आज मुझे स्वर्ण सिद्धि मिल जायेगी। मैं संसार का सबसे महान वैभवशाली और शक्तिशाली पुरुष बन जाऊँगा। मैंने काला घोड़ा विक्रम को लेने भेज दिया है। आता ही होगा……
तभी घोड़ा विक्रमादित्य को लेकर आश्रम के द्वार पर पहुँचा। योगी ने कहा–
राजन् ! कुछ विलम्ब तो हो गया है, खैर आप मेरे पीछे चले आइये।
योगीराज मुझे क्या करना है ?
राजन् ! आपको उत्तर साधक बनना है। मैं मंत्र पाठ करूँगा तब आपको हाथ में तलवार लेकर भूत-प्रेत-दुष्टात्माओं से यज्ञ की रक्षा करनी है।

विक्रम तैयार होकर यज्ञ स्थल के सामने बैठ गया। योगी ने कहा–
राजन् ! आप इस सिन्दूर के सुरक्षित घेरे के भीतर ही रहिए। मैं मंत्रोच्चारण करता हूँ और आपको जैसा आदेश दूँ आप करते जाइये।
राजन् ! अब यह अभिमंत्रित तलवार अपने हाथ में लेकर सावधान होकर खड़े हो जाइए।
फिर योगी मंत्रोच्चारण करता है। विक्रम हाथ में तलवार लिए चौकन्ना होकर खड़ा हो गया। योगी ने कहा–
राजन ! पास ही महाकाल श्मशान है। वट वृक्ष पर एक शव टँगा है, आप उसे ले आइये।
विक्रम तलवार हाथ में लिए श्मशान में जाता है। वट वृक्ष पर शव टँगा देखा–
यही शव लगता है।
उसने शव को उठाकर कंधे पर लटकाया और चलने लगा। अचानक शव हँसने लगा–
हा.. हा..हा.. राजन ! तुम अपने को बड़ा बुद्धिमान समझते हो न ? तो मेरे प्रश्नों के उत्तर दो। तब मुझे ले जा सकते हो। मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ, तुम उसका सही उत्तर दो।

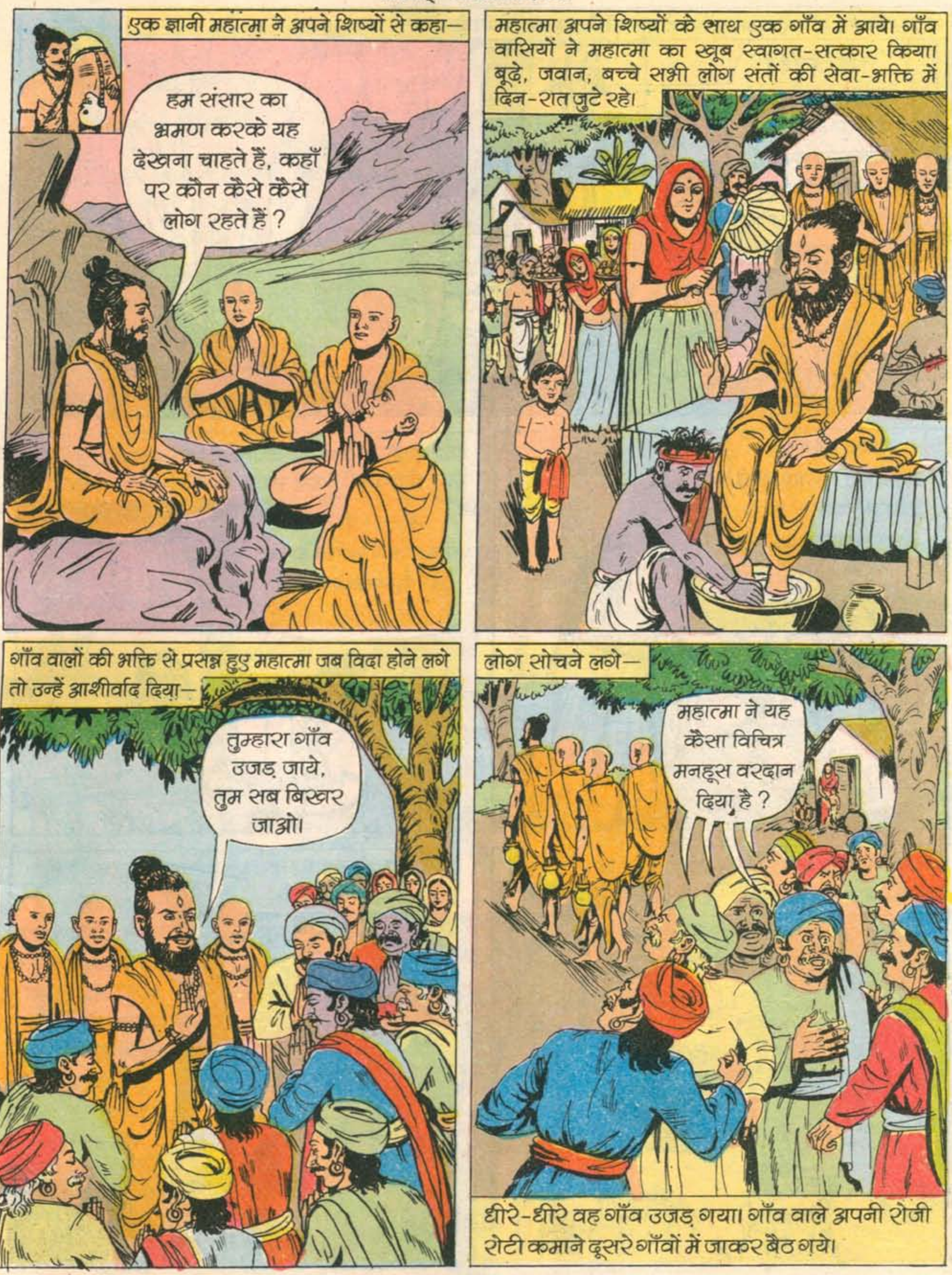
एक ज्ञानी महात्मा ने अपने शिष्यों से कहा—
हम संसार का भ्रमण करके यह देखना चाहते हैं, कहाँ पर कौन कैसे कैसे लोग रहते हैं ?
महात्मा अपने शिष्यों के साथ एक गाँव में आये। गाँव वासियों ने महात्मा का खूब स्वागत-सत्कार किया। बूढ़े, जवान, बच्चे सभी लोग संतों की सेवा-भक्ति में दिन-रात जुटे रहे।
गाँव वालों की भक्ति से प्रसन्न हुए महात्मा जब विदा होने लगे तो उन्हें आशीर्वाद दिया—
तुम्हारा गाँव उजड़ जाये, तुम सब बिखर जाओ।
लोग सोचने लगे—
महात्मा ने यह कैसा विचित्र मनहूस वरदान दिया है ?
धीरे-धीरे वह गाँव उजड़ गया। गाँव वाले अपनी रोजी रोटी कमाने दूसरे गाँवों में जाकर बैठ गये।

संतों का दल दूसरे गाँव में पहुँचा। उस गाँव वालों ने साधुओं को गालियाँ दीं—
हट्टे कट्टे होकर भीख माँगते तुम्हें शर्म नहीं आती ? निकल जाओ हमारे गाँव से।
महात्मा ने इन गाँववालों को भी आशीर्वाद दिया—
तुम सब यहाँ सुखी रहो, तुम्हारा गाँव आबाद रहे।
कहानी सुनाकर शव में छिपा वेताल बोला—
बताओ राजा विक्रम ! महात्मा ने भले लोगों को उजड़ने की और बुरे लोगों को आबाद रहने का वरदान दिया, क्या यह ठीक था ?
महात्मा का वरदान बिल्कुल सही था। भले लोग जहाँ भी जायेंगे वहाँ के लोगों को भला बना देंगे और बुरे लोग जहाँ जायेंगे वे वहाँ बुराई फैला देंगे। इसलिए भले लोगों का गाँव-गाँव में फैल जाना और बुरे लोगों का एक ही जगह आबाद रहना सही है।''
तूने ठीक कहा विक्रम ! किन्तु मौन तोड़कर तुमने अपने शर्त भंग की है। इसलिये मैं जा रहा हूँ।
यह कहकर शव वापस वृक्ष पर जा बैठा।

विक्रम फिर गया। शव को कंधे पर डालकर चला तो शव ने हँसकर फिर कहानी सुनाई। विक्रम ने उत्तेजित होकर उत्तर दिया और शव फिर उड़कर वट वृक्ष पर जा बैठा। अन्त में 25वीं बार शव ने कहानी सुनाई तो विक्रम नहीं बोला। तब अग्नि वेताल प्रकट हुआ—
मित्र ! समय बिताने के लिए ये 25 कहानियाँ मैंने ही सुनाई हैं। तुम संकट में फँसे हो, मैं अदृश्य रूप में तुम्हारे साथ रहूँगा, सावधान रहना, योगी धोखे से अग्निकुण्ड में फैंकने का प्रयत्न करेगा।
सब बातें समझाकर वेताल लौट गया।
विक्रम शव को लेकर योगी के पास आ पहुँचा। योगी उत्तेजित होकर बोला—
राजन् ! इतना विलम्ब क्यों कर दिया ? खैर सावधान हो जाओ।
योगी शव के ऊपर बैठकर मंत्र पढ़ता हुआ अग्नि में आहुतियाँ देने लगा। फिर बोला—
राजन् ! अब अग्निकुण्ड की प्रदक्षिणा करो।
आगे-आगे राजा चलने लगा। पीछे योगी।
फिर योगी ने राजा को अग्निकुण्ड में धकेलने के लिए जैसे ही आगे हाथ बढ़ाया—
अब इसे कुण्ड में ढकेल देता हूँ।

सावधान विक्रम ने पलटकर योगी को ही धक्का दे दिया।
ले दुष्ट, अपनी करनी का फल भुगत।
आह ! बचाओ !
योगी अग्निकुण्ड में गिर पड़ा। उसका शरीर जलने लगा।

अचानक अग्निकुण्ड में से स्वर्ण पुरुष प्रकट हुआ–
राजन् ! मैं देवाधिष्टित स्वर्ण पुरुष हूँ। तुम्हारे गुणों पर प्रसन्न हूँ। मुझे अपने भण्डार में सुरक्षित रखो। मुझे दिन के समय पाँवों की तरफ से जितना काटोगे, रात को उतना ही बढ़ जाऊँगा। यह अक्षय स्वर्ण भंडार तुम्हारे पास रहेगा।
हे स्वर्ण पुरुष ! आप द्वारा प्रदत्त स्वर्ण को प्रजा की भलाई के लिए लगाने का वचन देता हूँ।
विक्रमादित्य ने स्वर्ण पुरुष को ले जाकर अवन्ती के भण्डार में रख दिया।

एक दिन महाराज विक्रमादित्य जनता दरबार में बैठे थे। तभी एक अजनबी वृद्ध दरबार में आया–
राज-राजेश्वर वीर शिरोमणि महाराज विक्रमादित्य को प्रणाम !
राजा और सभा इस अजनबी को देखने लगे। राजा ने पूछा–
कहिए भद्रपुरुष ! कहाँ से आना हुआ और यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ?
महाराज ! मैं तो संसार का भ्रमण करता रहता हूँ। घूमते-घूमते आपके दरबार में चला आया।
राजा ने उत्सुकता से पूछा–
महानुभाव, संसार तो आश्चर्यजनक चीजों से भरा पड़ा है। क्या आपने भी कहीं कुछ अद्‌भुत देखा ?
अतिथि एक सुन्दर चित्र निकालकर राजा के सामने रखता है–
हाँ ! महीपाल ! प्रतिष्ठानपुर के राजा की कन्या सुकोमला का यह चित्र है, यह संसार की अनुपम सुन्दरी है, विदुषी है, चतुर, कला निपुण, साहसी अनेक गुण हैं इसमें, परन्तु……।

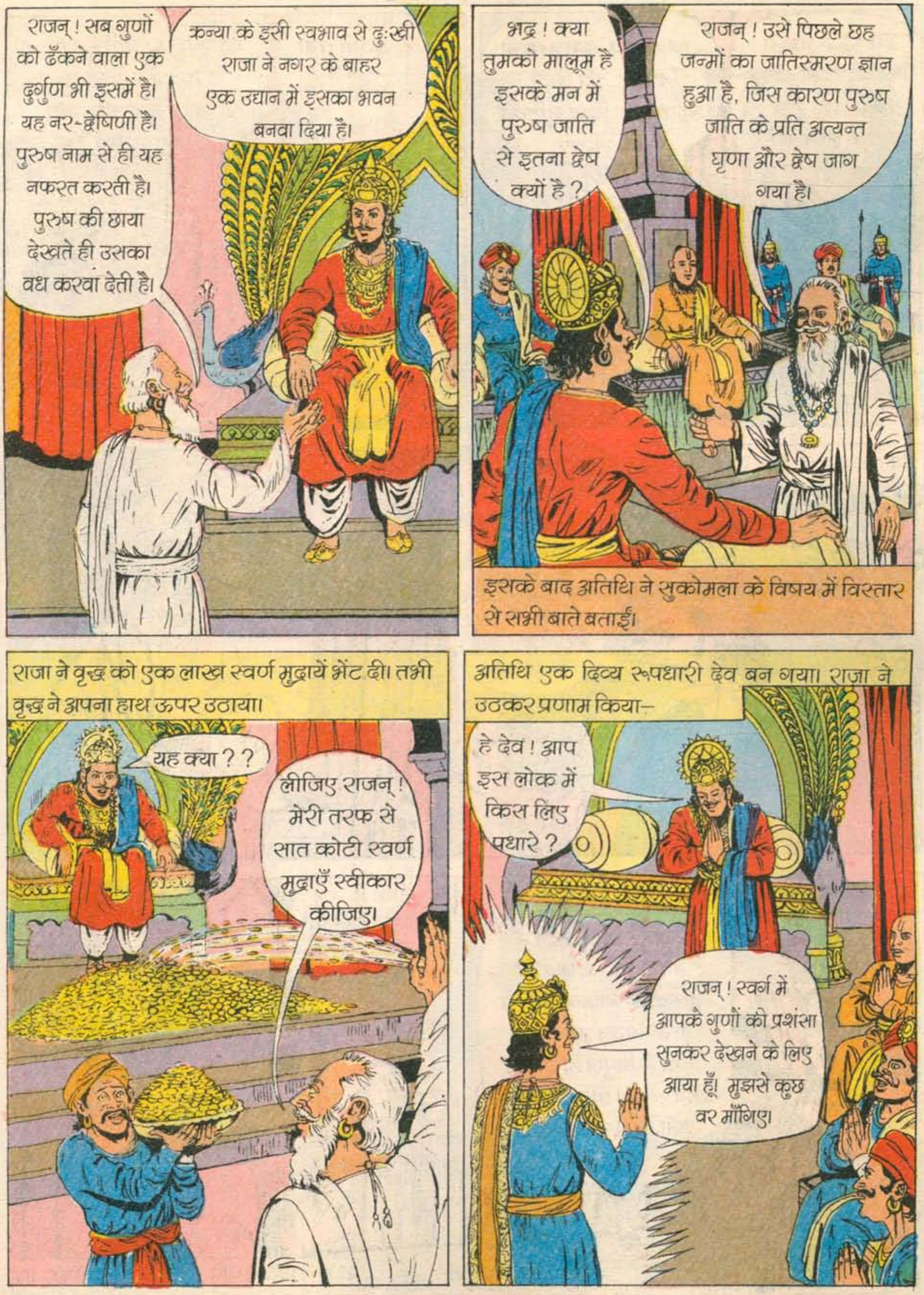
राजन् ! सब गुणों को ढँकने वाला एक दुर्गुण भी इसमें है। यह नर-द्वेषिणी है। पुरुष नाम से ही यह नफरत करती है। पुरुष की छाया देखते ही उसका वध करवा देती है।
कन्या के इसी स्वभाव से दुःखी राजा ने नगर के बाहर एक उद्यान में इसका भवन बनवा दिया है।
भद्र ! क्या तुमको मालूम है इसके मन में पुरुष जाति से इतना द्वेष क्यों है ?
राजन् ! उसे पिछले छह जन्मों का जातिस्मरण ज्ञान हुआ है, जिस कारण पुरुष जाति के प्रति अत्यन्त घृणा और द्वेष जाग गया है।
इसके बाद अतिथि ने सुकोमला के विषय में विस्तार से सभी बातें बताईं।
राजा ने वृद्ध को एक लाख स्वर्ण मुद्रायें भेंट दी। तभी वृद्ध ने अपना हाथ ऊपर उठाया।
यह क्या ??
लीजिए राजन् ! मेरी तरफ से सात कोटी स्वर्ण मुद्राएँ स्वीकार कीजिए।
अतिथि एक दिव्य रूपधारी देव बन गया। राजा ने उठकर प्रणाम किया–
हे देव ! आप इस लोक में किस लिए पधारे ?
राजन् ! स्वर्ग में आपके गुणों की प्रशंसा सुनकर देखने के लिए आया हूँ। मुझसे कुछ वर माँगिए।

देव ! मुझे किसी चीज की कमी नहीं है और न ही मुझे अधिक लालसा है।
राजन् ! देव-दर्शन कभी निष्फल नहीं जाता, लीजिए यह दिव्य गुटिका आप रखिए।
इसके क्या गुण हैं ?
यह रूप परावर्तिनी गुटिका है। इसे मुँह में रखकर आप जैसा चाहें रूप बना सकते हैं।
गुटिका देकर देव वापस चला गया।
देव के जाने के बाद राजा ने मातृभट्ट से कहा–
राजकुमारी सुकोमला के विषय में हमें शीघ्र ही सम्पूर्ण जानकारी चाहिए और उसे प्राप्त करने का उपाय भी।
लगता है सुकोमला का घमण्ड टूटने का समय आ गया।
दो दिन में मातृभट्ट ने सारी जानकारी एकत्र कर ली–
राजन् ! अपने राज्य में मदना और कामकेलि नामक दो गणिकाएँ हैं। ये नृत्य-गायन आदि सभी विद्या में निपुण हैं। इनकी बहन रूपश्री प्रतिष्ठानपुर में रहती है जो सुकोमला की नृत्य शिक्षिका है।
ठीक है, हम इन्हीं के सहारे अपना कार्य सिद्ध करेंगे।
राजा ने प्रतिष्ठानपुर जाने की तैयारी कर ली।

तीन दिन के बाद एक रात्रि को विक्रमादित्य, वेताल, मातृभट्ट, मदना तथा कामकेलि तीव्रगामी रथों में बैठकर प्रतिष्ठानपुर की ओर चल दिये—
वताल के साथ पाँचों प्रतिष्ठानपुर की सीमा में पहुँचे। जैसे ही वे सुकोमला के उद्यान के पास पहुँचे, उन्हें एक भयंकर गर्जना सुनाई दी।
वेताल! यह क्या है? वो देखो कौन है?
सुकोमला के महल की रक्षिका मार्जरी देवी महल पर बैठी है। पुरुष की छाया देखते ही सुकोमला को सूचित कर रही है और फिर उसके कहने पर हम सबकी हत्या कर डालेगी।
तब तो हमें अपना रूप बदल लेना चाहिए।
गुटिका के प्रभाव से तीनों ने नारी रूप बना लिया।
पाचों रूपश्री के आवास पर पहुँचे। मदना ने सबका परिचय दिया।
यह मेरी खास सहेली विक्रमा, यह भट्टा और यह वेताला! विक्रमा नृत्य-गायन में और ये दोनों संगीत-वाद्यों में निपुण हैं।
आप सबका स्वागत है। विश्राम कीजिए! मैं राजकुमारी को नृत्य सिखाने जा रही हूँ।
महल पहुँचकर रूपश्री ने राजकुमारी सुकामला को बताया—
राजकुमारी जी, आज मेरे यहाँ राजा विक्रमादित्य की राजसभा की पाँच नर्तकियाँ मेहमान हैं। पाँचों एक से बढ़कर एक हैं।
अच्छा! उनसे मुझे भी मिलवाओ! मैं भी उनकी कला देखना चाहती हूँ।

रूपश्री पाँचों को लेकर महल में आई। वहाँ मदना और कामकेलि ने नृत्य किया, विक्रमा ने गाना सुनाया। सुकोमला बोली–
वाह ! विक्रमा, तुम जितनी सुन्दर हो उतना ही अच्छा तुम्हारा स्वर है। आज से तुम मेरे पास रहना।
धीरे-धीरे सुकोमला और विक्रमा में गहरी दोस्ती हो गई
विक्रमा ने एक दिन संगीत में शंकर, विष्णु, ऋषभ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ की स्तुति की। संगीत सुनकर सुकोमला बोली–
सखि, मेरे सामने किसी पुरुष का नाम क्यों लेती हो ? पुरुष जाति का नाम सुनते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मेरा रोम-रोम घृणा से जलने लगता है।
राजकुमारी जी ! आपको पुरुष नाम से इतना द्वेष क्यों है ? पुरुष तो सृष्टि का सूत्रधार है।
मुझे अपने पिछले छह जन्मों का ज्ञान हुआ है। प्रत्येक जन्म में पुरुषों ने मुझे कष्ट दिये, धोखा दिया। पुरुष जैसा कठोर, क्रूर, स्वार्थी जीव दूसरा नहीं है।
पुरुष ने आपको ऐसा क्या धोखा दिया जरा सुनाइए तो जानूँ।
सुकोमला ने अपने पिछले छह जन्मों की कहानी सुनाई–
छह जन्म पूर्व मैं धन नाम के एक सेठ की पत्नी थी। सेठ धनी था, परंतु बड़ा कंजूस भी था। एक बार मैंने किसी गरीब को एक दमड़ी दान कर दी तो सेठ क्रोध में लाल हो गया, फिर उसने मुझे इतना पीटा कि मेरी चमड़ी उधड़ गई। हड्डियाँ टूट गईं। मैं खटिया में पड़ी सड़ती रही। कंजूस सेठ ने न तो दवा दी, न ही खाने को दिया। भूखी-प्यासी तड़फ-तड़फकर मैं मर गई।

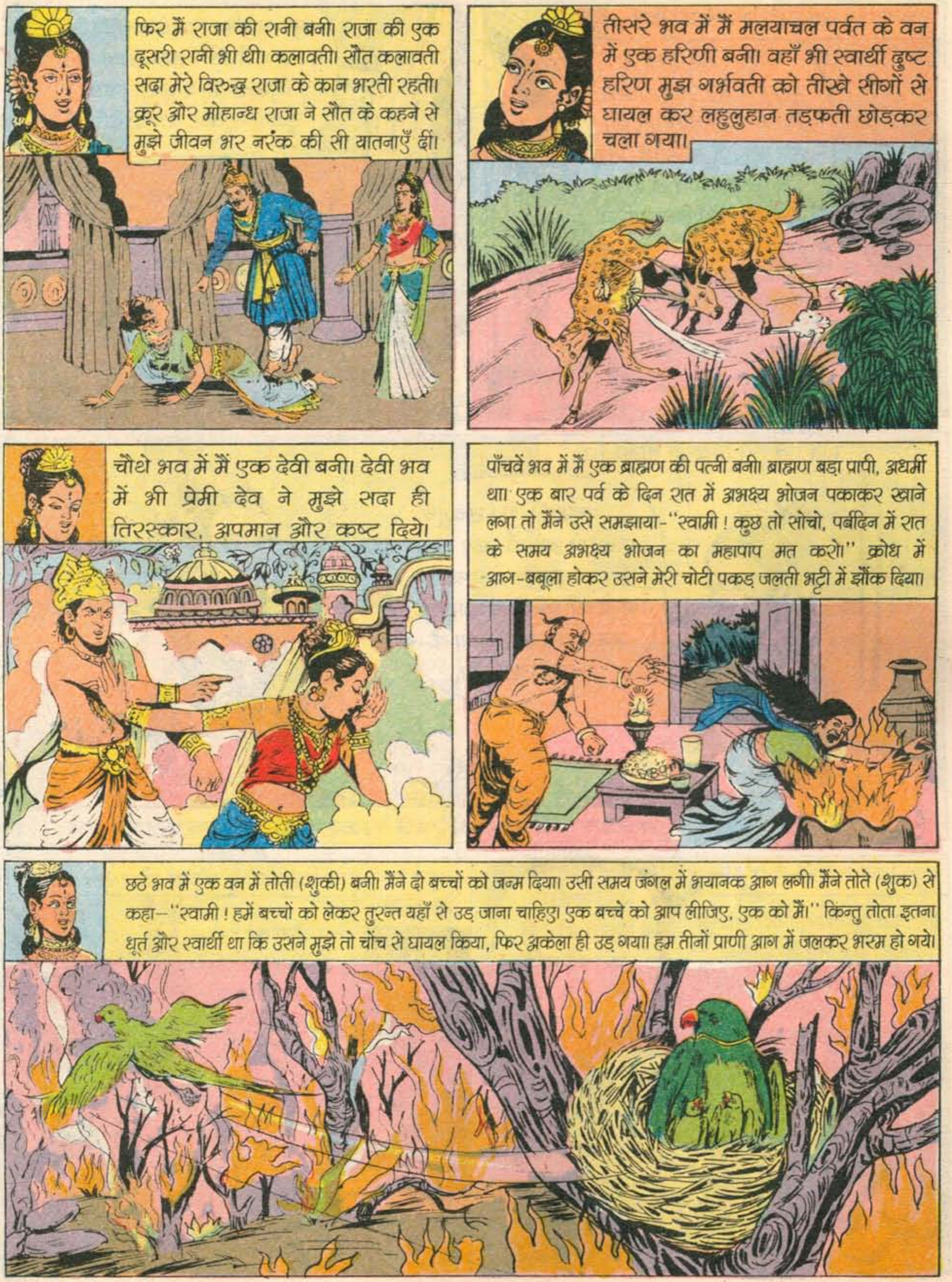
फिर मैं राजा की रानी बनी। राजा की एक दूसरी रानी भी थी। कलावती। सौत कलावती सदा मेरे विरुद्ध राजा के कान भरती रहती। क्रूर और मोहान्ध राजा ने सौत के कहने से मुझे जीवन भर नरक की सी यातनाएँ दीं।
तीसरे भव में मैं मलयाचल पर्वत के वन में एक हरिणी बनी। वहाँ भी स्वार्थी दुष्ट हरिण मुझ गर्भवती को तीखे सींगों से घायल कर लहुलुहान तड़फती छोड़कर चला गया।
चौथे भव में मैं एक देवी बनी। देवी भव में भी प्रेमी देव ने मुझे सदा ही तिरस्कार, अपमान और कष्ट दिये।
पाँचवें भव में मैं एक ब्राह्मण की पत्नी बनी। ब्राह्मण बड़ा पापी, अधर्मी था। एक बार पर्व के दिन रात में अभक्ष्य भोजन पकाकर खाने लगा तो मैंने उसे समझाया-"स्वामी ! कुछ तो सोचो, पर्वदिन में रात के समय अभक्ष्य भोजन का महापाप मत करो।" क्रोध में आग-बबूला होकर उसने मेरी चोटी पकड़ जलती भट्टी में झोंक दिया।
छठे भव में एक वन में तोती (शुकी) बनी। मैंने दो बच्चों को जन्म दिया। उसी समय जंगल में भयानक आग लगी। मैंने तोते (शुक) से कहा-"स्वामी ! हमें बच्चों को लेकर तुरन्त यहाँ से उड़ जाना चाहिए। एक बच्चे को आप लीजिए, एक को मैं।" किन्तु तोता इतना धूर्त और स्वार्थी था कि उसने मुझे तो चोंच से घायल किया, फिर अकेला ही उड़ गया। हम तीनों प्राणी आग में जलकर भस्म हो गये।

सुकोमला ने एक लम्बी साँस लेकर कहा-
सखि ! हर जन्म में पुरुष ने मेरे साथ धोखा किया। मुझे यातनाएँ दीं। इसी कारण मेरे रोम-रोम में पुरुष जाति से द्वेष और घृणा की चिनगारियाँ फूटती हैं।
पुरुष की सूरत देखते ही मेरे मन में आग जल उठती है। तुरन्त तलवार से उसके टुकड़े-टुकड़े करवा देती हूँ।
सहानुभूति जताते हुए विक्रमा बोली-
राजकुमारी जी ! सचमुच पुरुष ने आपके साथ बहुत ही क्रूर व्यवहार किया है। उसी की प्रतिक्रिया आपके मन में द्वेष और घृणा के रूप में उभरी है।
इसके बाद पाँचों नर्तकियाँ रथ में बैठकर रूपश्री के भवन पर पहुँच गईं।
एक दिन रूपश्री ने कहा-
विक्रमा सुकोमला की अभिन्न सखि बन गई है। इसको देखे बिना उसे चैन भी नहीं पड़ता।
हाँ ! अब वह किसी और से बात भी नहीं करना चाहती।
कुछ दिन बाद विक्रमा ने मदना और कामकेलि से कहा-
तुम दोनों को वेताला अवन्ती पहुँचा देती है। हम अभी यहाँ रुकेंगी।

अगली रात राजमहलों के पीछे उद्यान में एक प्राचीन चैत्य है। उसके सामने विशाल आंगन है। आंगन के चारों तरफ अशोक, चम्पक आदि वृक्ष लगे हैं। चाँदनी रात में तीन विद्याधर चैत्य के सामने नृत्य कर रहे हैं। मन्दिर के पुजारी ने विद्याधरों को नृत्य करते देखा।
अरे ! यह तो अद्भुत दृश्य है। विद्याधर देव यहाँ नृत्य कर रहे हैं। मुझे तुरन्त महाराज को खबर करनी चाहिए।
पुजारी राजा शालिवाहन को बुलाकर लाया। राजा को देखते ही विद्याधर नृत्य छोड़कर आकाश में उड़ गये। शालिवाहन ने पुकारा–
हे विद्याधरो ! रुक जाओ, तुम उड़ क्यों गये ? तुम मुझे अपना मनोहर नृत्य दिखाओ। वर्ना मैं यहीं अपने प्राण त्याग दूँगा।
राजा की पुकार सुनकर विद्याधर नीचे आये।
विद्याधरों ने राजा के सामने नृत्य किया। उनका नृत्य गायन देखकर राजा मुग्ध हो गया। बोला–
आप मेरी राजसभा में ऐसा नृत्य करके सबको आनन्दित कीजिए।
राजन् ! हम एकान्त में ही नृत्य करते हैं। जनसभा में नहीं।
क्यों .... ? क्यों नहीं करते ?
राजन् ! मुझे नारी मात्र से घृणा है। नारी को देखते ही द्वेष की चिनगारियाँ फूटने लगती हैं। और राजसभा में तो सभी रहेंगे।

ऐसी बात है तो मैं वचन देता हूँ, राजसभा में कोई नारी नहीं आयेगी।
ठीक है राजन् ! अपने वचन का ध्यान रखिए। हम कल नृत्य करने आयेंगे।
राजा ने ढिंढोरा पिटवाया—
कल राजसभा में विद्याधरों का नृत्य होगा। विद्याधर नारी द्वेषी हैं। इसलिए केवल पुरुषों का ही प्रवेश होगा।
उद्घोषणा सुनकर सुकोमला सोचती है—
यह कैसा संयोग है। मुझे पुरुष मात्र से द्वेष है। वैसे ही इन विद्याधरों को नारी मात्र से द्वेष है ....। क्या यह नारी से प्रताड़ित है ? मैं जाऊँगी, इनका नृत्य अवश्य देखूँगी।
अगले दिन सुकोमला पुरुषवेश पहनकर दर्शकों की पंक्ति में आकर बैठ गई। राजसभा खचाखच भरी थी। एक विद्याधर ने संगीत के सुर छेड़े। दोनों ने नृत्य किया। जनता तालियाँ पीटने लगी।
वाह ! अति सुन्दर
वाह ! क्या अद्भुत नृत्य है।

नृत्य के पश्चात् राजा शालिवाहन ने विद्याधरों से पूछा–
हे विद्याधरो ! आपको नारी मात्र से इतना द्वेष क्यों है ?
नारी छल, क्रूरता, कठोरता, दुष्टता और दुर्जनता की पिटारी है।
विद्याधर ! तुम किस आधार पर कहते हो ? नारी तो करुणा, कोमलता और प्रेम की मूर्ति होती है।
नहीं ! मैं अपने पिछले छह जन्मों के अनुभवों से कहता हूँ।
ऐसा क्या अनुभव है, सुनें जरा.....।
विद्याधर ने सुकोमला की कहानी से ठीक विपरीत छह जन्मों की कहानी सुनाई फिर कहा–
राजन् ! छहों जन्म में नारी ने मुझे धोखा दिया। मेरे साथ क्रूर व्यवहार किया। उसने ही मेरा वध किया इसलिए मुझे नारी की सूरत देखने से ही घृणा हो गई है।
विद्याधर की कहानी सुनकर पुरुषवेश में बैठी सुकोमला क्रोध से भभकती बोल पड़ी–
तुम झूठ बोलते हो ! तुमने ही सेठ के भव में मुझे मारा था। राजा के भव में तुमने ही मुझे निर्वासित किया था। तुमने ही ब्राह्मण के भव में मुझे भट्टी में झोंका था और तुम्ही वह धोखेबाज स्वार्थी तोते हो जो अपनी पत्नी और दो बच्चों को जलते छोड़कर अकेला उड़ गया।

राजन् ! यदि मैं झूठा हूँ, तो इससे पूछिए कि उन दो बच्चों का क्या हुआ जो शुकी के साथ जल मरे थे····?
प्रश्न सुनकर सुकोमला चुप हो गई। फिर बोली–
पिताश्री ! मुझे तो नहीं पता, परंतु इसी धूर्त को पूछिए उन दोनों नन्हे बच्चों का क्या हुआ ?
राजन् ! ये ही मेरे दोनों बच्चे हैं जो दावानल में मेरे साथ जले थे। यहाँ भी ये मेरे पुत्र बने हैं।
हाँ ! हाँ ! हम ही पिछले जन्म में शुक के रूप में जलकर यहाँ इनके पुत्र बने हैं। हमारी माँ तो हमें जलता छोड़कर उड़ गई थी।
यह सुनकर सुकोमला सोच में पड़ गई–
हो सकता है मुझे ही पूर्वजन्म की स्मृति ठीक से नहीं हुई हो। यदि यह सच हो तो पुरुष के प्रति मेरा द्वेष मिथ्या है। मैंने बहुत भूल की है।
सुकोमला सोचती है–
ऐसा भी, हो सकता है मेरे कठोर स्वभाव के कारण ही यह पुरुष नारी-जाति से द्वेष करने लगा हो।

सुकोमला मन ही मन व्याकुल हो उठी। उसने राजा से कहा–
पिताजी, मैं ही गलत थी। अब मैं अपने छह जन्मों के पति इस नारी द्वेषी पुरुष के साथ विवाह करूँगी।
नर–द्वेषिणी सुकोमला यह क्या कर रही है ?
एकाएक यह परिवर्तन कैसे हुआ ?
शालिवाहन चकित होकर पूछता है–
पुत्री, क्या तुम्हारा निर्णय पक्का है ? सचमुच तुम इससे विवाह करना चाहती हो ?
हाँ पिताश्री, मैं इससे विवाह करके अपनी भूल का प्रायश्चित करूँगी। मेरे कारण ही यह नारी द्वेषी बना है न ?
राजा शालिवहन ने विद्याधर से कहा–
हे विद्याधर ! आपने मेरी पुत्री का हृदय परिवर्तन कर मुझ पर बहुत बड़ा उपकार किया है। अब इसके साथ विवाह कर हम को चिन्ता मुक्त कीजिए।
नहीं महाराज ! मुझे क्षमा करें।
विद्याधर ने थोड़ी देर ना–नुकुर की, फिर वह विवाह के लिए तैयार हो गया। शुभ मुहूर्त में दोनों का विवाह हो गया। शालिवाहन ने आशीर्वाद देते हुए कहा–
हे दिव्य पुरुष ! आप अभी मेरे इस सात मंजिला भवन में ही निवास करें। इससे हम सबको प्रसन्नता होगी।
महाराज ! जैसी आपकी इच्छा !

रात के समय तीन व्यक्ति एक उपवन में बैठे बातें कर रहे हैं–
राजन् ! आपने बड़ी चतुरता से विद्याधर का रूप बनाकर अपना कार्य सिद्ध कर लिया।
हाँ ! मित्र, यह कार्य तो हो गया। अब मुझे अवन्ती की चिन्ता हो रही है। आप शीघ्र ही वहाँ जाकर राज्य व्यवस्था सम्हालो। मैं कुछ दिन और यहीं रहूँगा।
मात्रभट्ट और वेताल अवन्ती वापस लौट गये।
सुकोमला के साथ बहुत दिन आनन्द में बिताने के बाद एक दिन विद्याधरवेशी विक्रम सोचता है–
अब सुकोमला भी माँ बनने की तैयारी में है। अवन्ती जाने का यही उचित समय है।
विक्रम ने एक गम्भीर बहाना बनाकर सुकोमला से कहा–
प्रिये ! मुझे कुछ समय के लिए अपने स्थान पर जाना बहुत जरूरी है। मैं वचन देता हूँ जल्दी ही आकर तुमसे मिलूँगा। फिर तुम्हें भी अपने साथ ले जाऊँगा।
स्वामी, जल्दी वापस आइयेगा मैं आपका इन्तजार करूँगी।
एक रात विक्रम महल के पीछे के द्वार पर आया और अपना परिचय लिख दिया।
यह श्लोक पढ़कर सुकोमला को मेरा असली परिचय मिल जायेगा।
फिर घोड़े पर बैठकर चुपचाप अवन्ती के लिए चल पड़ा।

\# पृथ्वी की रक्षा के लिए दण्ड धारण करने वाला मैं निष्पाप हृदय राजकन्या के साथ विवाह करके अपनी अवन्ती को जा रहा हूँ।

देवकुमार ने आकर अपनी माँ को सब कुछ बता दिया।
क्या, तेरे पिता अवन्ती के राजा हैं? चल हम अभी चलते हैं।
नहीं माँ ! पिताश्री ने तेरे साथ छल किया है। मैं भी छलपूर्वक उनसे मिलूँगा। तुझे पूरे सम्मान के साथ मिलाऊँगा।
फिर राजा शालिवाहन और सुकोमला से आशीर्वाद लेकर देवकुमार अकेला ही अवन्ती की ओर चल दिया।
कठिन रास्ते पार कर अवन्ती पहुँचा।
अवन्ती में घूमता हुआ देवकुमार काली नामक वेश्या के पास पहुँचा। बहुत सा धन उसके सामने रखकर कहा–
काली ! मुझे तुम्हारी देह की नहीं, सहायता की जरूरत है। तुम बस मुझे नगर की खबरें देती रहोगी। बदले में मैं तुम्हें मालामाल कर दूँगा।
ठीक है स्वामी ! आप जो पूछेंगे सब जानकारी दूँगी, आप आराम से यहाँ रहिये।
देवकुमार ने रातभर विश्राम किया। दूसरे दिन पूछा–
सामने जो राजमहल है, उसमें राजा-रानी किस खण्ड में सोते हैं, रास्ता किधर से है?
राजा-रानी सातवें खण्ड में सोते हैं। उद्यान के बीच से राजमहल का रास्ता है।
देवकुमार ने काली से सब जानकारी ले ली और योजना बनाने लगा।

इधर संध्या के समय राजा विक्रम अपने महलों में पहुँचे तो अग्निवेताल आकर बोला–
राजन् ! मैं देवद्वीप में देवों के उत्सव में जा रहा हूँ। दो मास तक मुझे स्मरण मत करना।
ठीक है मित्र ! शुभास्तु ते पन्थानः !
वेताल को विदाकर विक्रम आराम से सो गया।
रात्रि के दूसरे प्रहर में देवकुमार ने अदृश्यकरणी विद्या का स्मरण किया और अदृश्य होकर राजमहल में घुस गया। पहले अपने माता-पिता को प्रणाम किया–
पिताश्री ! मैं अपना परिचय देने के लिए ही यह चमत्कार दिखाना चाहता हूँ। मुझे क्षमा करना।
फिर उसने रानी के आभूषणों की पेटी उठाई।
और विद्या-बल से सीधा काली के दरवाजे पर पहुँच गया। काली ने इतने आभूषण देखे तो चकित होकर बोली–
बाप रे ! इतने आभूषण कहाँ से लाये हो ?
चुप रह ! यह महारानी कलावती के आभूषण हैं। इन्हें सँभालकर रख।
दूसरे दिन राजमहल में तहलका मच गया–
राजमहल में चोरी ! रानी के आभूषणों की पेटी गायब हो गई।
ऐसा दुस्साहसी चोर कौन हो सकता है ?

राजा विक्रम ने तुरन्त अधिकारियों की सभा बुलाकर कहा--
चोर बड़ा दुःस्साहसी और मायावी लगता है। राजमहल में चोरी करके उसने समूची राजशक्ति को चुनौती दी है।
महाराज ! चोर कितना ही दुस्साहसी क्यों न हो, परन्तु आप चिन्ता न करें। मैं तीन दिन के भीतर उसे पकड़ लाऊँगा।
!!
ठीक है यदि तुम तीन दिन में चोर को नहीं पकड़ सके तो चोर का दण्ड तुम्हें दिया जायेगा।
काली ने देवकुमार को सूचना दी-
सुना तुमने ! नगर रक्षक ने तीन दिन में चोर को पकड़ने का बीड़ा उठाया है। गली-गली में गुप्तचर सैनिक घूम रहे हैं। सँभलकर जाना।
ठीक है ! देखूँगा ?
तीसरे दिन आधी रात के समय एक कावड़धारी यात्री ने नगर रक्षक को पीछे से पुकारा।
मामा ! मामा !! ठहरो।
कौन है ?

मामा ! मैं आपका भान्जा श्यामल।
अरे भानजे श्यामल ! तीर्थयात्रा से कब वापस आया ? तुम्हारी आवाज बदली-बदली सी क्यों लग रही है।
कुछ नहीं मामा ! दूर यात्रा करके आया हूँ न इसलिए। परन्तु मामा ! आप इतने उदास और दुःखी क्यों दीखते हैं। सब कुशल तो है न ?
भान्जे ! कुशल कहाँ है ? मौत सर पर नाच रही है। तीन दिन हो गये चोर पकड़ में नहीं आ रहा है। अब सुबह होते ही राजा मुझे ही चोर की जगह पकड़कर दण्ड देगा।
मामा ! यह तो बहुत बुरा होगा। राजा का कोई भरोसा नहीं। वह आपकी सारी सम्पत्ति लूट लेगा और सब परिवार का नाश कर देगा।
भान्जे क्या करूँ ?
मामा ! रातोंरात अपनी सम्पत्ति कहीं सुरक्षित स्थान पर छिपा दो।
भान्जे ! मैं तो पहरे से जा नहीं सकता। तू जा, मेरा यह काम कर दें।
एक सैनिक के साथ श्यामल घर आया। सैनिक ने नगर रक्षक की पत्नी से कहा–
नगर रक्षक जी ने कहलवाया है कि आप श्यामल के साथ अपनी सब सम्पत्ति गुप्त स्थान पर भिजवा दो। भरोसा नहीं, कल क्या होगा ?
नगर रक्षक की पत्नी ने कीमती जेवरात, धन आदि सब श्यामल को दे दिया।

श्यामल धन लेकर काली के घर आया।
ले यह सब धन रखा। मैं विश्राम करता हूँ। तू नगर की सारी खबरें लाकर देती रह।
सुबह होने पर नगर रक्षक घर पर आया। पत्नी ने कहा–
घर का सब धनमाल लेकर श्यामल रात को गया तो अब तक नहीं लौटा है।
हे भगवान, कहीं दाल में कुछ काला लगता है।
काफी दिन चढ़े श्यामल नहीं लौटा तो नगर रक्षक की पत्नी ने कहा–
दुपहर हो गई, श्यामल नहीं लौटा। मेरा तो दिल धड़क रहा है।
नगर रक्षक बाहर निकला तो दरवाजे के सामने ही काँवड़ और श्यामल के कपड़े पड़े दीखे।
लगता है श्यामल के नाम से उसी धूर्त चोर ने हमें उल्लू बनाया है! हाय! लुट गये हम।
नगर रक्षक ने राजा विक्रमादित्य के पास पहुँचकर सारी घटना सुनाई और कहा–
महाराज! उल्टा चोर कोतवाल को दंड दे गया। धूर्त चोर मेरा ही धन लेकर भाग गया।
चोर, चोर ही नहीं बड़ा चालाक और साहसी भी है।

इस प्रकार जो भी चोर को पकड़ने का बीड़ा उठाता, चोर उसी की दुर्दशा करके उसे लूटता। परन्तु कोई भी चोर को पकड़ नहीं सका। मंत्रियों ने राजा से निवेदन किया–
राजन्! यह चोर बड़ा ही साहसी और चालाक है। साथ ही विद्यासिद्ध भी लगता है।
ऐसा व्यक्ति छल, बल से वश में नहीं आ सकता। उसे तो कूटनीति से ही वश में करना होगा।
राजा के आदेश से नगर में उद्घोषणा की गई
अवन्ती के नगरजनों सुनो! एक चोर ने पूरे नगर को परेशान कर रखा है। जो कोई उसे पकड़कर राजा के सामने प्रस्तुत करेगा, उसे आधा राज्य भेंट कर दिया जायेगा।
देवकुमार ने काली से कहा–
काली! सुन रही हो। अब तुम्हारे उद्धार का समय आ गया है। जा पटह को छू ले। मुझे राजा के सामने प्रस्तुत कर दे।
देवकुमार ने योजना समझाकर कालीको भेजा–
काली ने आकर पटह को स्पर्श कर दिया। सैनिक उसे लेकर राजा के पास आये। मंत्री बुद्धिसागर ने कहा–
यह तो कोढ़ में खाज वाली बात हो गई। चोर को नहीं पकड़ पाने के कारण वैसे ही हमारी बदनामी हो रही है, अब वेश्या आधे राज्य की मालकिन बनेगी तो·····।
मंत्री जी, शांत हो जाइये, पहले इसकी बात सुन लें।

राजा ने वेश्या से पूछा–
चोर कहाँ है तू कैसे पकड़वायेगी ?
महाराज ! चोर का ठिकाना मुझे पता है। परन्तु उसे लाने के लिए दो सुन्दर रथ और गाजे–बाजे चाहिए।
राजा ने दो सुसज्जित रथ और गाजे-बाजे भेजे। एक रथ में काली वेश्या बैठी और चोरी किया सब सामान रखवाया। दूसरे रथ में देवकुमार बैठा, नगर के रास्तों पर, भवनों पर अपार भीड़ उस विचित्र चोर को देखने के लिए उमड़ पड़ी। उसे देखकर लोग कह रहे हैं–
यह चोर है ? नहीं, यह तो कोई राजकुमार है। लगता है। वेश्या ने राज के लोभ में बेचारे परदेसी को फँसा दिया है।
देव·कुमार ने राजसभा में प्रवेश कर प्रणाम किया–
राजराजेश्वर महाराज विक्रमादित्य को देवकुमार का प्रणाम।
यह चोर नहीं हो सकता। मन करता है इसे अपनी छाती से लगा लूँ। कितना प्यारा है, कितना सुन्दर और तेजस्वी है।
युवक ! तुम कौन हो ? क्या तुमने ही चोरियाँ की हैं ? किसलिए कीं और आज स्वयं आत्म–समर्पण करने क्यों आये ?
महाराज, चोरी करना मेरा उद्देश्य नहीं। मैं तो सिर्फ अपने बल और बुद्धि का परिचय देकर आपसे मिलना चाहता था।

क्यों ? मुझसे मिलने का क्या मतलब है ?
राजन् ! आप तो विद्याधर हैं न, अपने छह पूर्व जन्मों का हाल जानते हैं। आपने चतुरता से एक नर-द्वेषिणी नारी को पत्नी बना लिया, तो क्या आप मेरे विषय में कुछ नहीं जान सकते ?
राजा चकित होकर देखने लगा। उसके विचारों में सुकोमला का चित्र उभर आया। उसने पूछा-
तो क्या तुम प्रतिष्ठानपुर से आये हो ?
हाँ, मैं देवी सुकोमला का पुत्र, महाराज शालिवाहन का दोहित्र देवकुमार हूँ। अपने पिताश्री अवन्ती नरेश महाराज विक्रमादित्य को प्रमाण करता हूँ।
फिर उसने आगे बढ़कर विक्रमादित्य के पाँव छू लिए।
विक्रमादित्य ने देवकुमार को हृदय से लगा लिया। अपने सिंहासन पर बैठाया। यह दृश्य देखकर सभी की आँखों में खुशी के आँसू छलक उठे। फिर विक्रमादित्य ने कहा-
मंत्रियो ! और सभाजनो ! यह वीर शिरोमणि मेरी प्रिय रानी सुकोमला का अंगजात है। आप सबने जान ही लिया है, कि यह विक्रमपुत्र बल, छल, साहस और तेज में अपने पिता से बढ़ चढ़कर ही है।
फिर कहा-
इसका पिता देव है, इसी भ्रम के कारण इसे देवकुमार कहा जाता था। आज से यह हमारा पुत्र 'विक्रमचरित्र' के नाम से विख्यात होगा।
राज राजेन्द्र विक्रमादित्य पुत्र राजकुमार विक्रम चरित्र की जय.....।
चारों ओर से राजसभा गूँज उठी।

सम्राट् विक्रमादित्य ने अपनी नीति कुशलता से जहाँ प्रजा का कल्याण किया वहीं अपने साहस, चतुरता और बुद्धिमत्ता से एक नारी के हृदय से पुरुष-द्वेष समाप्त कर उसे जीवन की सहज धारा से जोड़ दिया। विक्रमचरित्र ने भी पिता की भाँति साहसी और आदर्श चरित्रवान बनकर माता-पिता के गौरव को बढ़ाया।

आचार्य सिद्धसेन और सम्राट् विक्रमादित्य

उज्जयिनी में विक्रमादित्य के शासन में प्रजाजन सुखी और सम्पन्न थे। उसी नगर में राजपण्डित देवर्षि के पुत्र कुमुदचन्द्र नामक कात्यायन गोत्री एक ब्राह्मण विद्वान भी रहते थे। महापंडित कुमुदचन्द्र सर्वशास्त्र पारगामी, ज्योतिष तथा निमित्त ज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान थे।

एक दिन महापंडित कुमुदचन्द्र राजमार्ग से गुजर रहे थे। लोग आ-आकर उन्हें श्रद्धा पूर्वक नमन करने लगे।

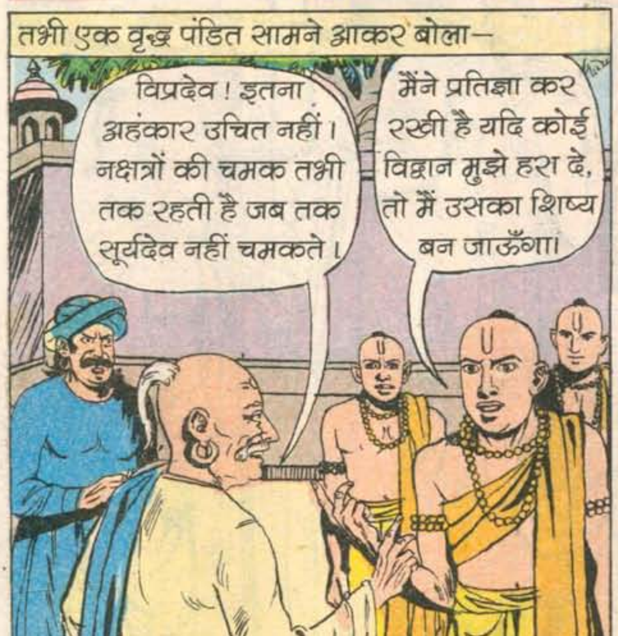

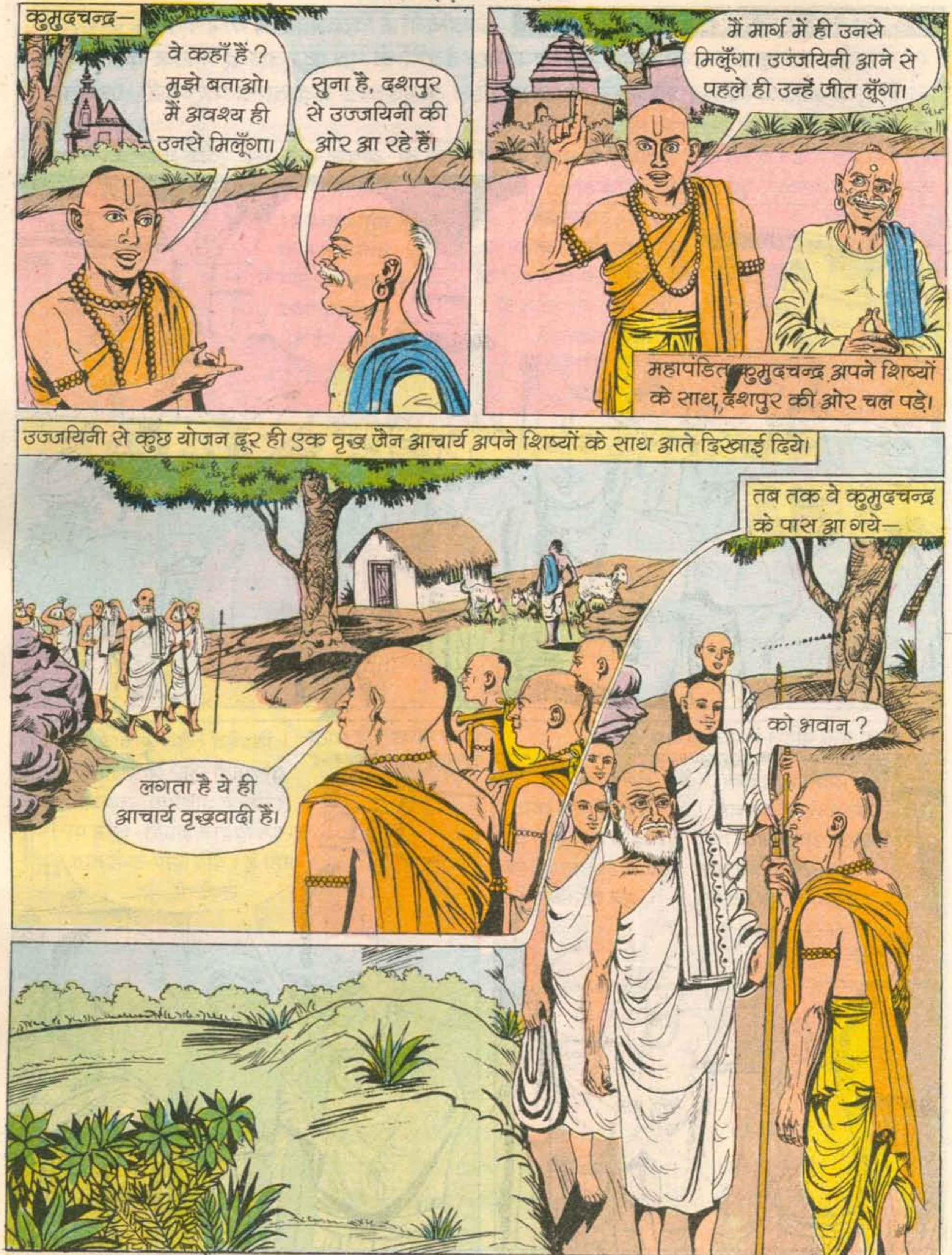
कुमुदचन्द्र—
वे कहाँ हैं ? मुझे बताओ। मैं अवश्य ही उनसे मिलूँगा।
सुना है, दशपुर से उज्जयिनी की ओर आ रहे हैं।
मैं मार्ग में ही उनसे मिलूँगा। उज्जयिनी आने से पहले ही उन्हें जीत लूँगा।
महापंडित कुमुदचन्द्र अपने शिष्यों के साथ दशपुर की ओर चल पड़े।
उज्जयिनी से कुछ योजन दूर ही एक वृद्ध जैन आचार्य अपने शिष्यों के साथ आते दिखाई दिये।
लगता है ये ही आचार्य वृद्धवादी हैं।
तब तक वे कुमुदचन्द्र के पास आ गये—
को भवान् ?

* आप कौन हैं ?

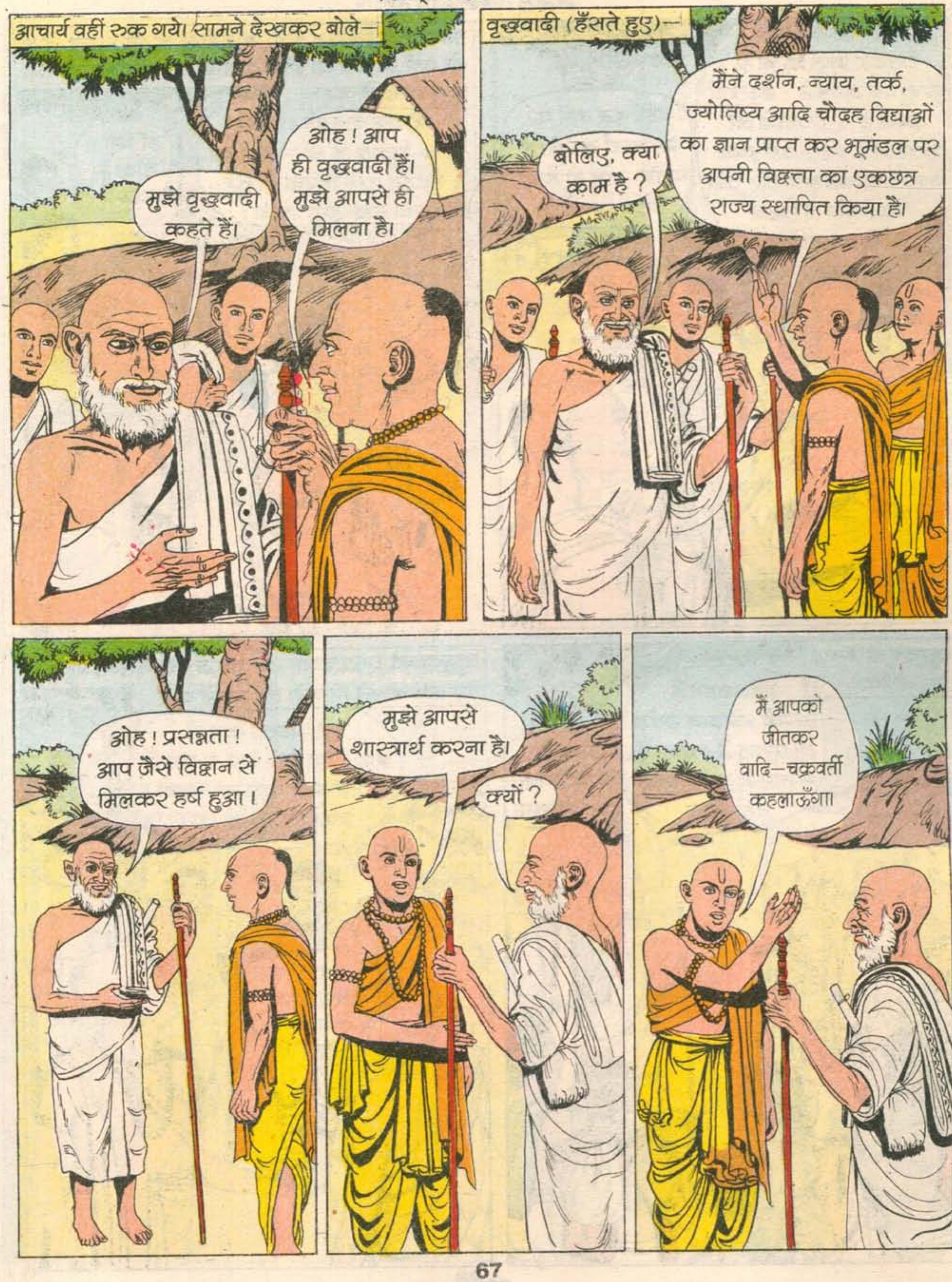
आचार्य वहीं रुक गये। सामने देखकर बोले–
ओह! आप ही वृद्धवादी हैं। मुझे आपसे ही मिलना है।
मुझे वृद्धवादी कहते हैं।
वृद्धवादी (हँसते हुए)–
बोलिए, क्या काम है?
मैंने दर्शन, न्याय, तर्क, ज्योतिष्य आदि चौदह विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर भूमंडल पर अपनी विद्वत्ता का एकछत्र राज्य स्थापित किया है।
ओह! प्रसन्नता! आप जैसे विद्वान से मिलकर हर्ष हुआ।
मुझे आपसे शास्त्रार्थ करना है।
क्यों?
मैं आपको जीतकर वादि–चक्रवर्ती कहलाऊँगा।

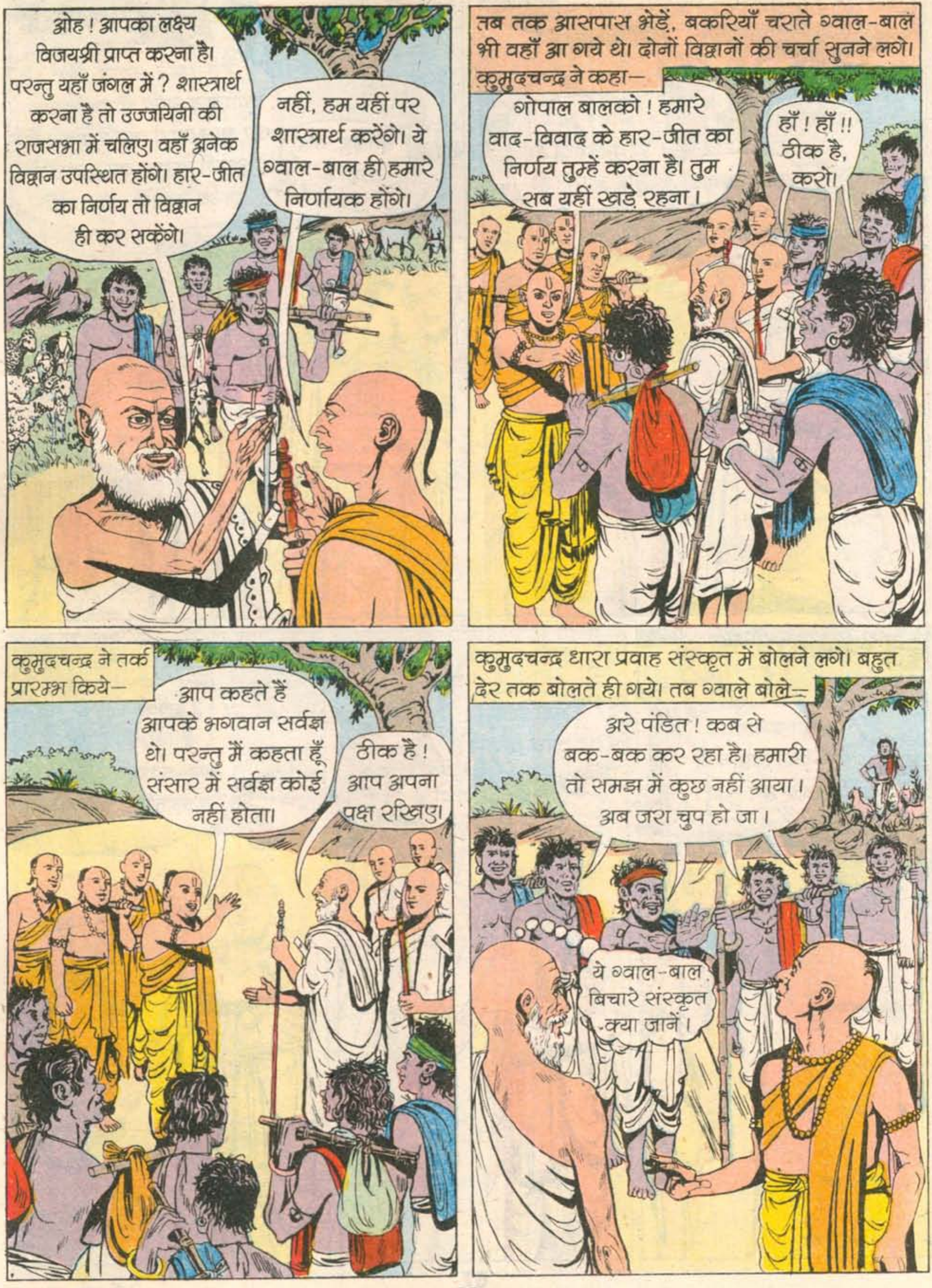
ओह ! आपका लक्ष्य विजयश्री प्राप्त करना है। परन्तु यहाँ जंगल में ? शास्त्रार्थ करना है तो उज्जयिनी की राजसभा में चलिए। वहाँ अनेक विद्वान उपस्थित होंगे। हार-जीत का निर्णय तो विद्वान ही कर सकेंगे।
नहीं, हम यहीं पर शास्त्रार्थ करेंगे। ये ग्वाल-बाल ही हमारे निर्णायक होंगे।
तब तक आसपास भेड़ें, बकरियाँ चराते ग्वाल-बाल भी वहाँ आ गये थे। दोनों विद्वानों की चर्चा सुनने लगे।
कुमुदचन्द्र ने कहा—
गोपाल बालको ! हमारे वाद-विवाद के हार-जीत का निर्णय तुम्हें करना है। तुम सब यहीं खड़े रहना ।
हाँ ! हाँ !! ठीक है, करो।
कुमुदचन्द्र ने तर्क प्रारम्भ किये—
आप कहते हैं आपके भगवान सर्वज्ञ थे। परन्तु मैं कहता हूँ संसार में सर्वज्ञ कोई नहीं होता।
ठीक है ! आप अपना पक्ष रखिए।
कुमुदचन्द्र धारा प्रवाह संस्कृत में बोलने लगे। बहुत देर तक बोलते ही गये। तब ग्वाले बोले—
अरे पंडित ! कब से बक-बक कर रहा है। हमारी तो समझ में कुछ नहीं आया। अब जरा चुप हो जा ।
ये ग्वाल-बाल बिचारे संस्कृत क्या जानें।

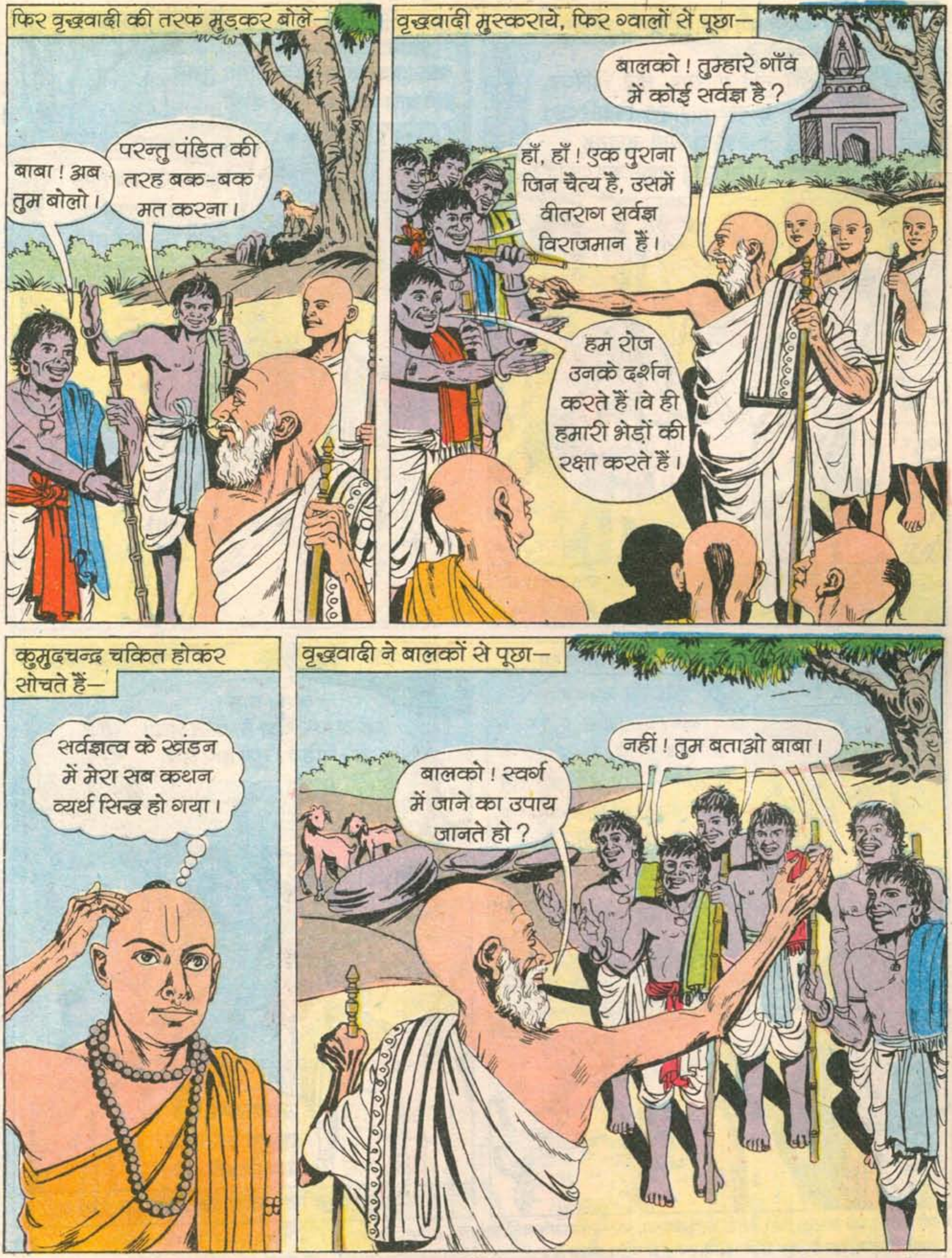
फिर वृद्धवादी की तरफ मुड़कर बोले—
बाबा ! अब तुम बोलो ।
परन्तु पंडित की तरह बक-बक मत करना ।
वृद्धवादी मुस्कराये, फिर ग्वालों से पूछा—
बालको ! तुम्हारे गाँव में कोई सर्वज्ञ है ?
हाँ, हाँ ! एक पुराना जिन चैत्य है, उसमें वीतराग सर्वज्ञ विराजमान हैं ।
हम रोज उनके दर्शन करते हैं । वे ही हमारी भेड़ों की रक्षा करते हैं ।
कुमुदचन्द्र चकित होकर सोचते हैं—
सर्वज्ञत्व के खंडन में मेरा सब कथन व्यर्थ सिद्ध हो गया ।
वृद्धवादी ने बालकों से पूछा—
बालको ! स्वर्ग में जाने का उपाय जानते हो ?
नहीं ! तुम बताओ बाबा ।

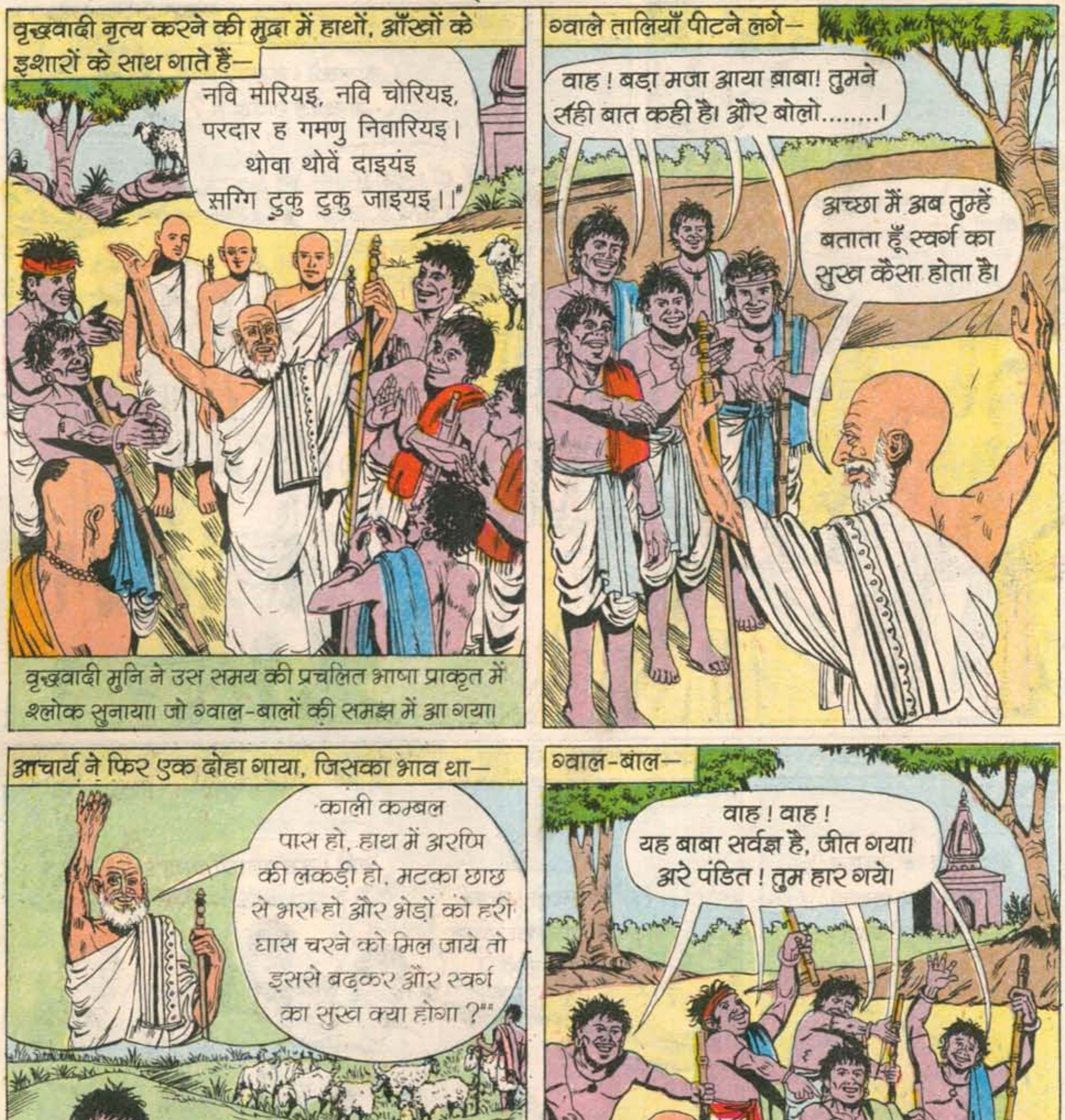

जो किसी को मारता नहीं, चोरी नहीं करता, पर-स्त्रीगमन नहीं करता, हाथ से दान देता है, वह धीमे-धीमे स्वर्ग में पहुँच जाता है।

काली कम्बल अरणि सट्ट छाछे भरियो दीवड मट्ट। एवड पडियो हरे झाड अवर किसु छे स्वर्ग विचार।।

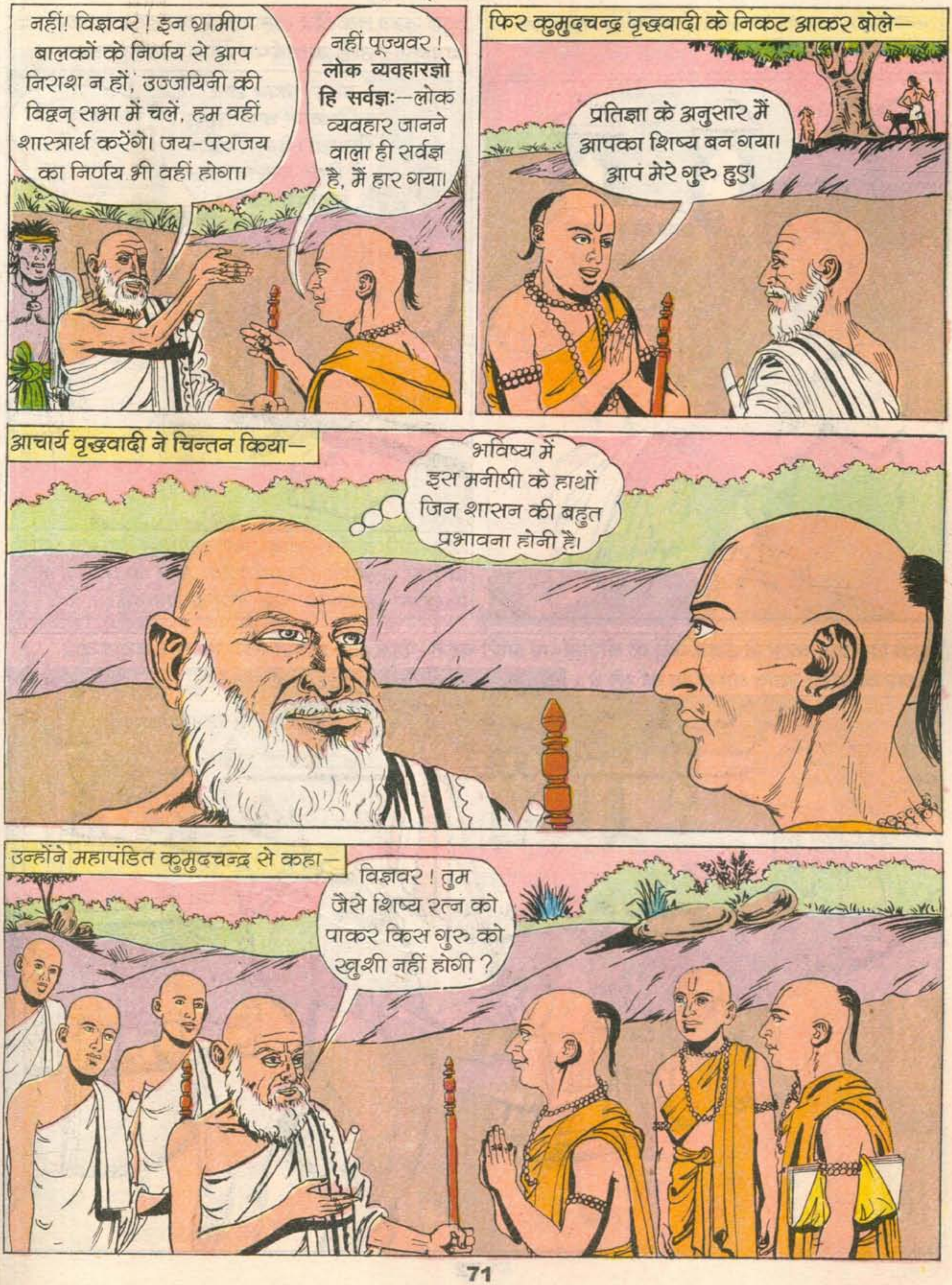
नहीं! विज्ञवर! इन ग्रामीण बालकों के निर्णय से आप निराश न हों, उज्जयिनी की विद्वन् सभा में चलें, हम वहीं शास्त्रार्थ करेंगे। जय-पराजय का निर्णय भी वहीं होगा।
नहीं पूज्यवर! **लोक व्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञः**—लोक व्यवहार जानने वाला ही सर्वज्ञ है, मैं हार गया।
फिर कुमुदचन्द्र वृद्धवादी के निकट आकर बोले—
प्रतिज्ञा के अनुसार मैं आपका शिष्य बन गया। आप मेरे गुरु हुए।
आचार्य वृद्धवादी ने चिन्तन किया—
भविष्य में इस मनीषी के हाथों जिन शासन की बहुत प्रभावना होनी है।
उन्होंने महापंडित कुमुदचन्द्र से कहा—
विज्ञवर! तुम जैसे शिष्य रत्न को पाकर किस गुरु को खुशी नहीं होगी?

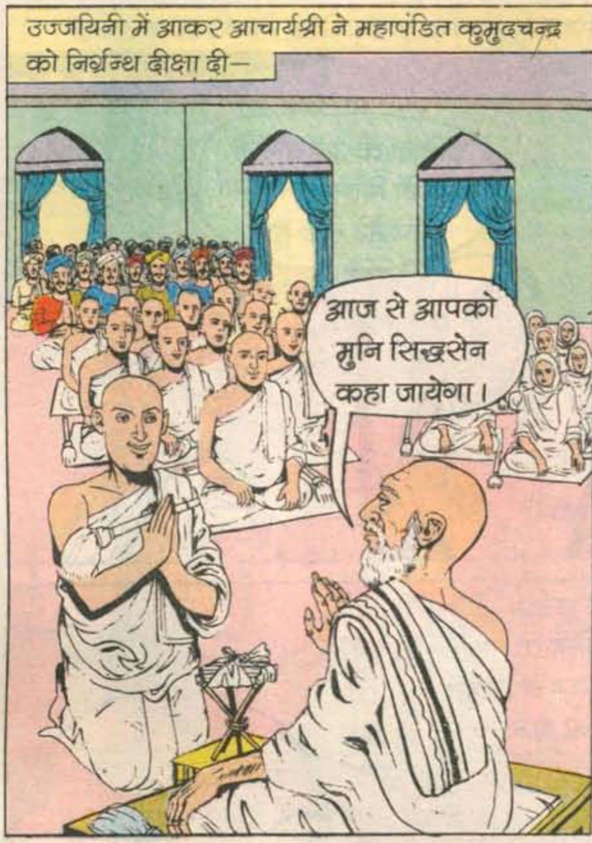
उज्जयिनी में आकर आचार्यश्री ने महापंडित कुमुदचन्द्र को निर्ग्रन्थ दीक्षा दी–
आज से आपको मुनि सिद्धसेन कहा जायेगा।

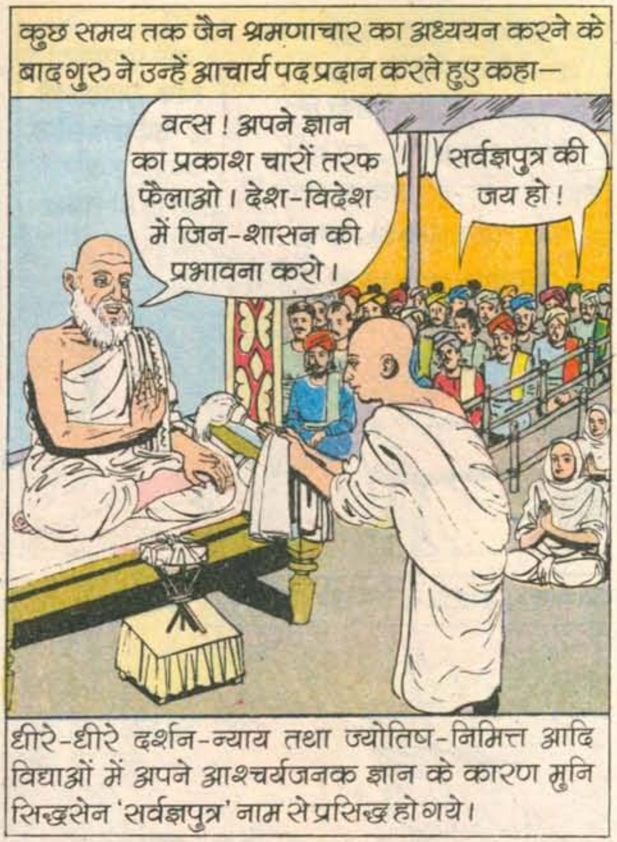
कुछ समय तक जैन श्रमणाचार का अध्ययन करने के बाद गुरु ने उन्हें आचार्य पद प्रदान करते हुए कहा–
वत्स ! अपने ज्ञान का प्रकाश चारों तरफ फैलाओ। देश-विदेश में जिन-शासन की प्रभावना करो।
सर्वज्ञपुत्र की जय हो !
धीरे-धीरे दर्शन-न्याय तथा ज्योतिष-निमित्त आदि विद्याओं में अपने आश्चर्यजनक ज्ञान के कारण मुनि सिद्धसेन 'सर्वज्ञपुत्र' नाम से प्रसिद्ध हो गये।

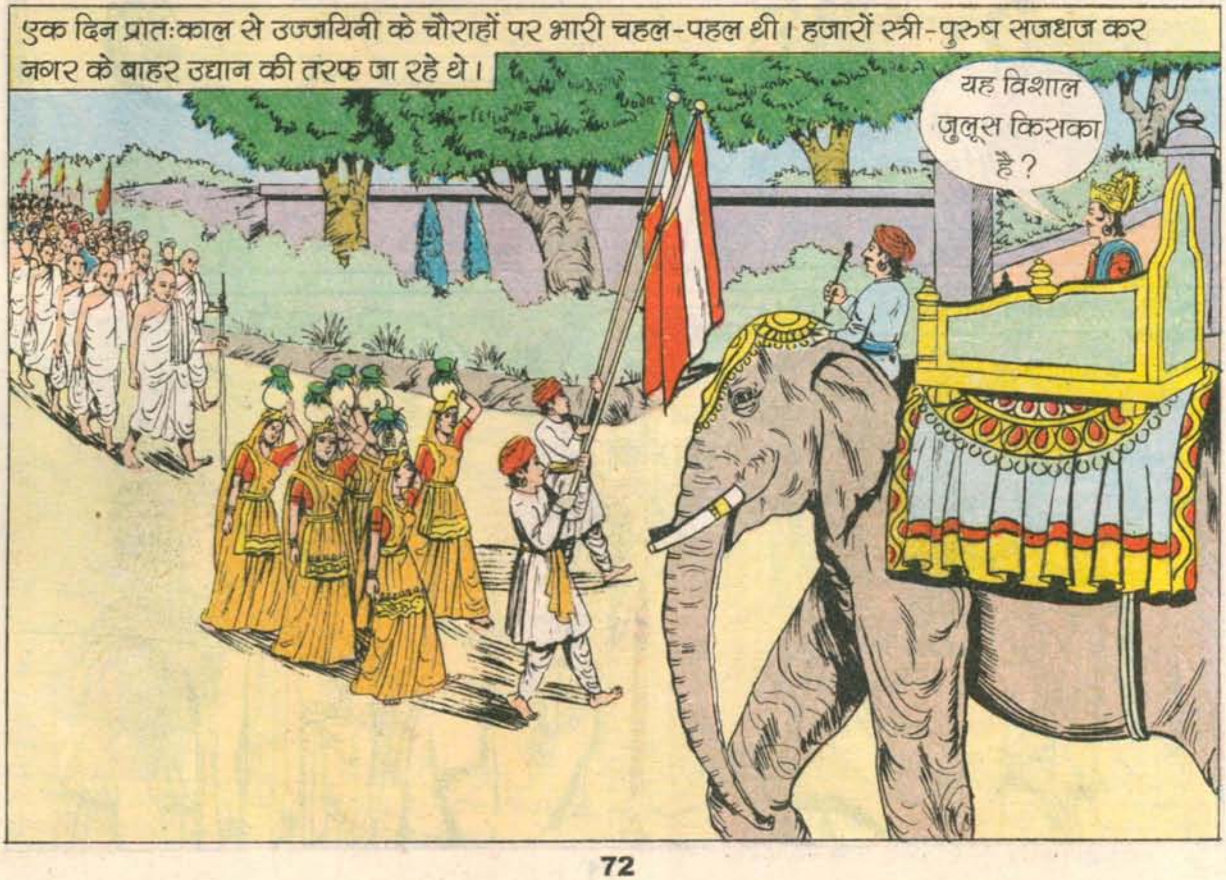
एक दिन प्रातःकाल से उज्जयिनी के चौराहों पर भारी चहल-पहल थी। हजारों स्त्री-पुरुष सजधज कर नगर के बाहर उद्यान की तरफ जा रहे थे।
यह विशाल जुलूस किसका है ?

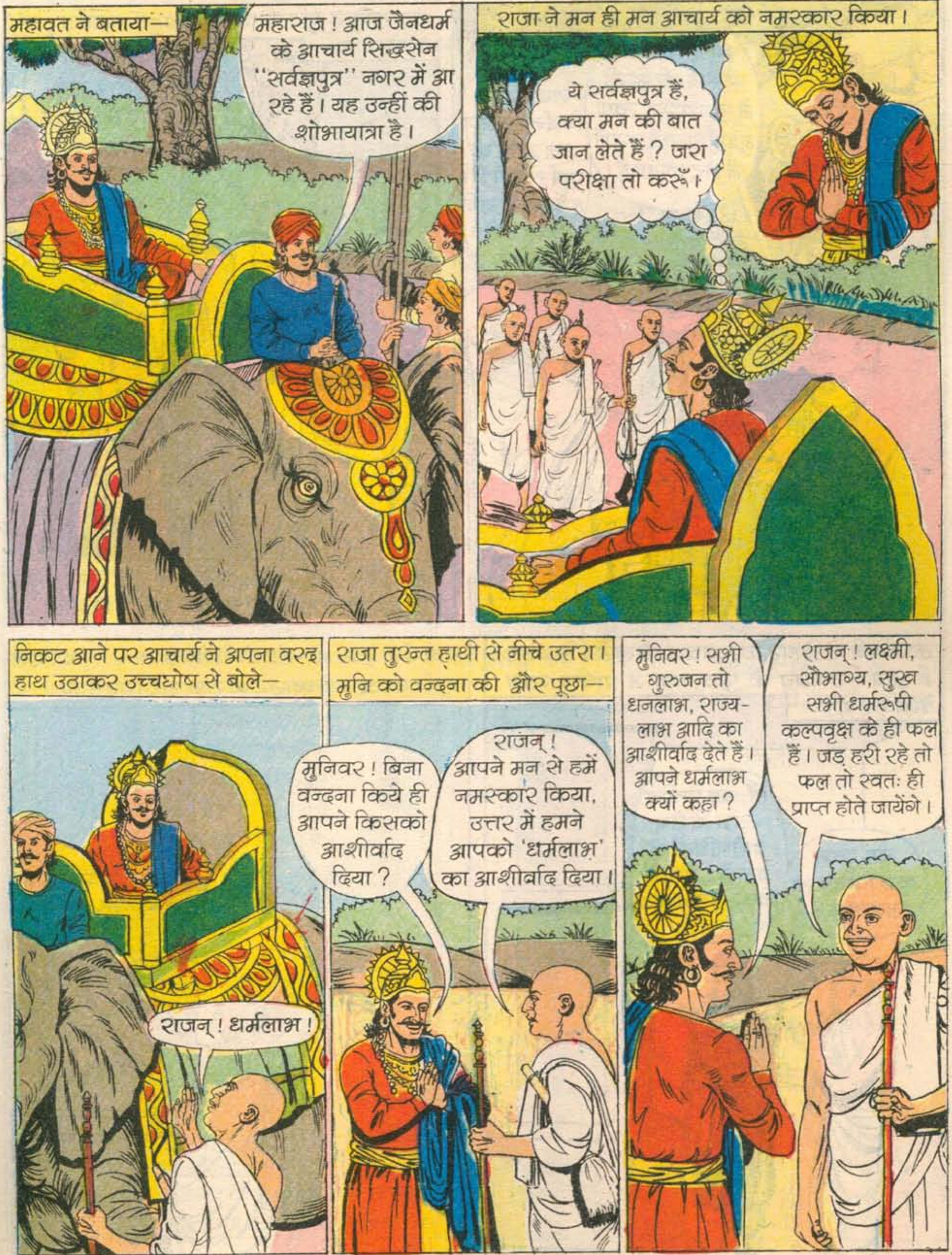
महावत ने बताया—
महाराज ! आज जैनधर्म के आचार्य सिद्धसेन "सर्वज्ञपुत्र" नगर में आ रहे हैं। यह उन्हीं की शोभायात्रा है।
राजा ने मन ही मन आचार्य को नमस्कार किया।
ये सर्वज्ञपुत्र हैं, क्या मन की बात जान लेते हैं ? जरा परीक्षा तो करूँ।
निकट आने पर आचार्य ने अपना वरद हाथ उठाकर उच्चघोष से बोले—
राजन् ! धर्मलाभ !
राजा तुरन्त हाथी से नीचे उतरा। मुनि को वन्दना की और पूछा—
मुनिवर ! बिना वन्दना किये ही आपने किसको आशीर्वाद दिया ?
राजन् ! आपने मन से हमें नमस्कार किया, उत्तर में हमने आपको 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद दिया।
मुनिवर ! सभी गुरुजन तो धनलाभ, राज्य-लाभ आदि का आशीर्वाद देते हैं। आपने धर्मलाभ क्यों कहा ?
राजन् ! लक्ष्मी, सौभाग्य, सुख सभी धर्मरूपी कल्पवृक्ष के ही फल हैं। जड़ हरी रहे तो फल तो स्वतः ही प्राप्त होते जायेंगे।

आपके अवन्ति पधारने की खुशी में एक करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ आपके चरणों में भेंट करता हूँ।
राजन्! हम निर्ग्रन्थ श्रमण धन आदि के पूर्ण त्यागी हैं। हमें लक्ष्मी नहीं केवल भक्ति चाहिए।
विक्रमादित्य मुनि के वचनों से बहुत प्रभावित हुआ। उसने कहा—
धन्य है आपकी त्याग वृत्ति। आप धर्म प्रचार में इसका उपयोग कर लें।
कुछ देर धर्म चर्चा करने के पश्चात् राजा विक्रमादित्य हाथी पर चढ़कर आगे चला गया।
उज्जयिनी से विहार कर आचार्य सिद्धसेन चित्रकूट में आये। उपाश्रय के एक कक्ष में प्राचीन स्तंभ देखकर बोले—
यह स्तंभ कुछ विचित्र सा लगता है?
हाँ, यह प्राचीन स्तंभ विशेष वनौषधियों से बना है। इसके भीतर दुर्लभ ग्रंथ रखे हैं।
आचार्यश्री स्वयं मंत्र-तंत्र के विशेष ज्ञाता थे। एक खास चूर्ण बनाकर मंत्रोच्चारण के साथ स्तंभ पर डाला।

आचार्यश्री ने पुनः मंत्रोच्चारण किया। उनके हाथ में एक विशेष ग्रंथ आ गया।
और छेद अपने आप बन्द हो गया।
एकान्त में बैठकर आचार्यश्री ग्रंथ के ताडपत्रों को पढ़ने लगे।
अहो ! सर्षप विद्या !
फिर आगे पढ़ा—
अहो ! स्वर्ण सिद्धि विद्या !
कुछ देर ध्यान योग में बैठकर आचार्यश्री ने पुनः ग्रंथ के पन्ने पलटने का प्रयास किया, तब तक तो ग्रन्थ ही गायब हो गया। चकित होकर ऊपर देखा तो शासन देवता की आकाशवाणी सुनाई दी—
मुनिवर ! इसका अधिक उपयोग हानिकारक समझकर मैंने ही ग्रंथ को अदृश्य किया है।
??
परन्तु आचार्यश्री ने ग्रन्थ का कुछ देर ही अध्ययन करके सर्षप विद्या और स्वर्ण सिद्धि विद्या का ज्ञान कर लिया था।
आचार्यश्री ने सोचा—
ठीक है, जो होता है अच्छे के लिए ही होता है। भविष्य में इसका दुरुपयोग भी हो सकता है।

इन चमत्कारी विद्याओं के प्रभाव से आचार्य सिद्धसेन की दूर-दूर तक कीर्ति फैल गई। हजारों लोग उनके पीछे-पीछे रहते। एक बार विहार करते हुए आचार्यश्री बंगाल के कूर्मार नगर पहुँचे। वहाँ का राजा देवपाल उनके दर्शन करने आया—
प्रणाम आचार्यश्री ! नगर में आपका स्वागत है।
आचार्यश्री का तेजस्वी चेहरा और ओजस्वी वाणी सुनकर राजा तो उनका भक्त बन गया। एक दिन राजा देवपाल आचार्यश्री की सेवा में आया। उदास देखकर आचार्यश्री ने पूछा—
राजन् ! आज किस चिंता में हो ?
गुरुदेव ! कामरूप (आसाम) के राजा विजयवर्म की सेना ने नगर को चारों तरफ से घेर लिया है।
राजन् ! क्षत्रिय कभी युद्ध से नहीं डरते !
किन्तु, गुरुदेव ! हमारे पास तो सेना और धन बल बहुत कम है।
राजन् ! आप चिंतातुर न हों। मेरा भक्त कभी पराजित नहीं हो सकता।
आचार्यश्री ने रात्रि में सरसों के दाने सामने रखकर सर्षप विद्या का पाठ किया।
ओम..........
....

जितने दाने थे उतने ही घुड़सवार सैनिक प्रगट हो गये। आचार्यश्री ने उनको आदेश दिया—
जाओ राजा देवपाल के राज्य की रक्षा करो।
सैनिक तत्काल ही युद्ध-स्थल की तरफ चल दिये।
रणक्षेत्र में एक जैसे हजारों वीर सैनिकों को उपस्थित देखकर विजयवर्म घबरा गया। सेनापति से कहा—
इतने सैनिक अचानक कहाँ से आ गये ? लगता है राजा के पास विशाल गुप्त सेना है।
महाराज ! इनके सामने हमारी सेना टिक नहीं पायेगी। जान बचाकर चले जाने में ही लाभ है।
विजयवर्म की सैना रातों रात मैदान छोड़कर भाग गई।
प्रातःकाल देवपाल ने आकर आचार्यश्री को वन्दना की—
गुरुदेव ! आपने कृपाकर चमत्कार दिखा दिया।
राजन् ! अब राज्य में सेना की उचित व्यवस्था कर लो।
गुरुदेव ! इसके लिये तो बहुत अधिक धन की आवश्यकता होगी। युद्ध के चलते राज्य के खजाने वैसे ही खाली हैं।
तब आचार्यश्री ने अपने भक्त को एक बार फिर संकट से उबारने के लिये स्वर्ण सिद्धि विद्या से अपार स्वर्ण बनाकर देववर्म को दिया।
लो ! अब अपनी जनता की सुरक्षा का पक्का इतजाम कर लो

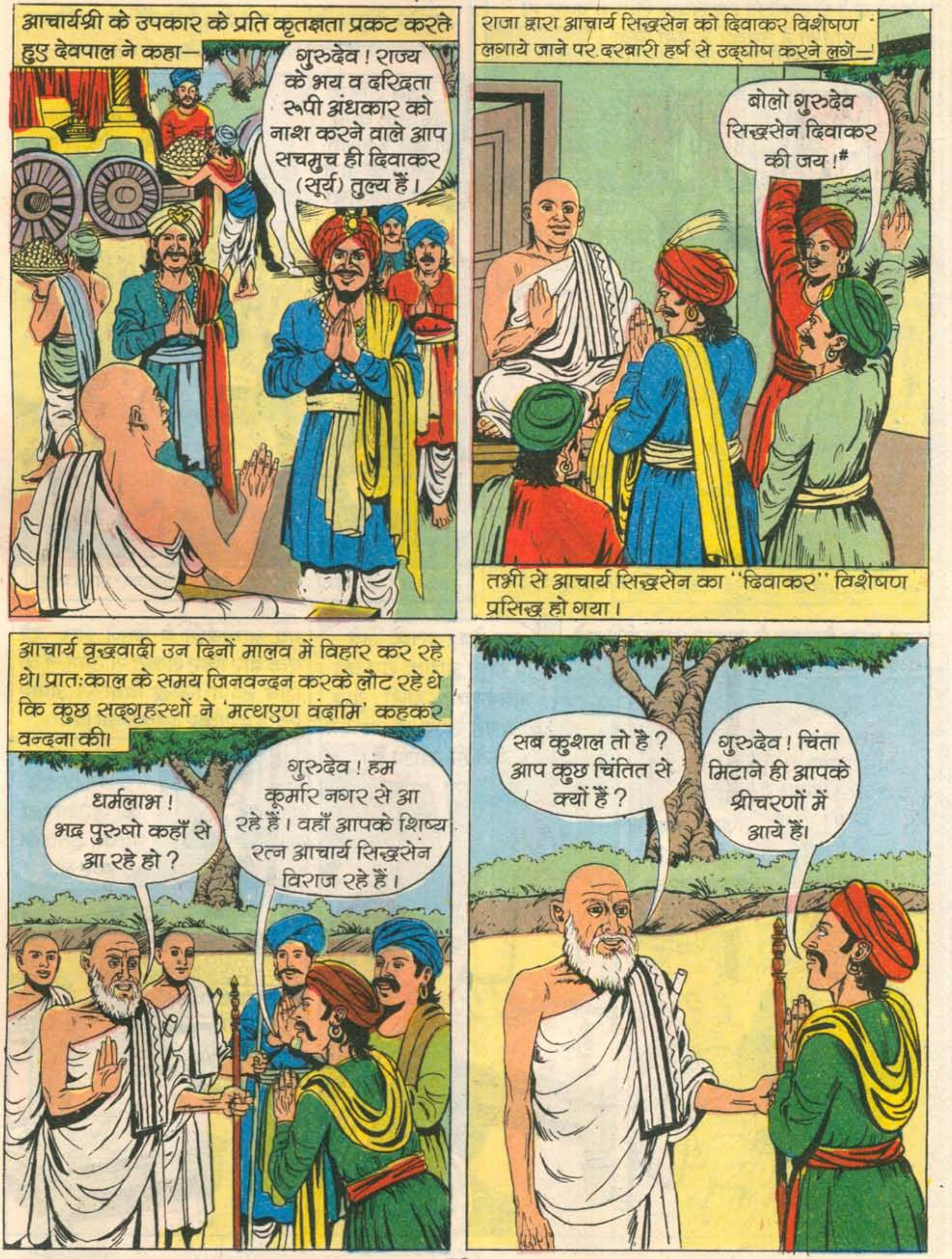
आचार्यश्री के उपकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए देवपाल ने कहा—
गुरुदेव ! राज्य के भय व दरिद्रता रूपी अंधकार को नाश करने वाले आप सचमुच ही दिवाकर (सूर्य) तुल्य हैं।
राजा द्वारा आचार्य सिद्धसेन को दिवाकर विशेषण लगाये जाने पर दरबारी हर्ष से उद्घोष करने लगे—
बोलो गुरुदेव सिद्धसेन दिवाकर की जय !#
तभी से आचार्य सिद्धसेन का "दिवाकर" विशेषण प्रसिद्ध हो गया।
आचार्य वृद्धवादी उन दिनों मालव में विहार कर रहे थे। प्रातःकाल के समय जिनवन्दन करके लौट रहे थे कि कुछ सद्गृहस्थों ने 'मत्थएण वंदामि' कहकर वन्दना की।
धर्मलाभ ! भद्र पुरुषो कहाँ से आ रहे हो ?
गुरुदेव ! हम कूर्मार नगर से आ रहे हैं। वहाँ आपके शिष्य रत्न आचार्य सिद्धसेन विराज रहे हैं।
सब कुशल तो है ? आप कुछ चिंतित से क्यों हैं ?
गुरुदेव ! चिंता मिटाने ही आपके श्रीचरणों में आये हैं।

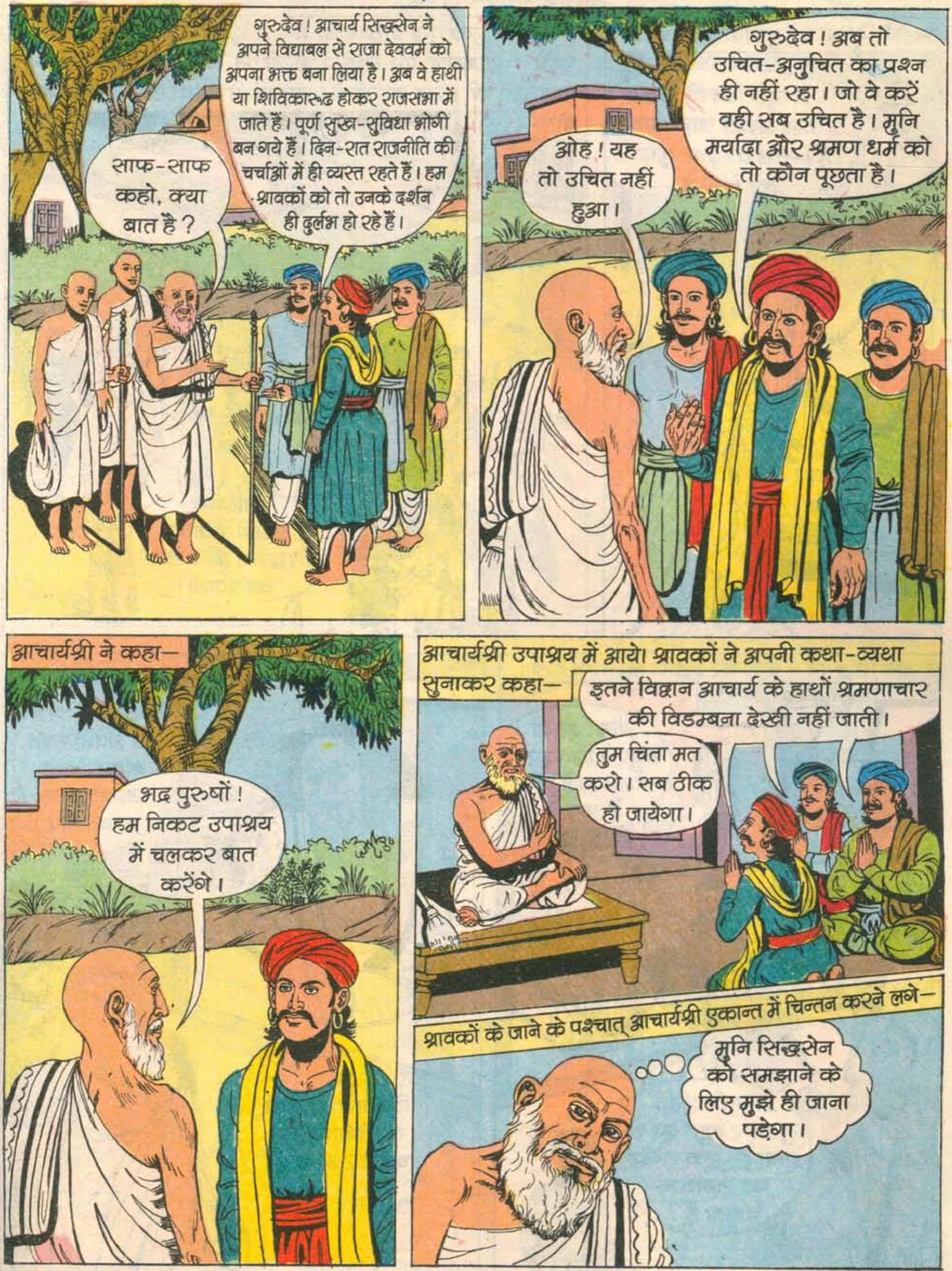
गुरुदेव! आचार्य सिद्धसेन ने अपने विद्याबल से राजा देववर्म को अपना भक्त बना लिया है। अब वे हाथी या शिविकारूढ होकर राजसभा में जाते हैं। पूर्ण सुख-सुविधा भोगी बन गये हैं। दिन-रात राजनीति की चर्चाओं में ही व्यस्त रहते हैं। हम श्रावकों को तो उनके दर्शन ही दुर्लभ हो रहे हैं।
साफ-साफ कहो, क्या बात है?
ओह! यह तो उचित नहीं हुआ।
गुरुदेव! अब तो उचित-अनुचित का प्रश्न ही नहीं रहा। जो वे करें वही सब उचित है। मुनि मर्यादा और श्रमण धर्म को तो कौन पूछता है।
आचार्यश्री ने कहा—
भद्र पुरुषों! हम निकट उपाश्रय में चलकर बात करेंगे।
आचार्यश्री उपाश्रय में आये। श्रावकों ने अपनी कथा-व्यथा सुनाकर कहा—
इतने विद्वान आचार्य के हाथों श्रमणाचार की विडम्बना देखी नहीं जाती।
तुम चिंता मत करो। सब ठीक हो जायेगा।
श्रावकों के जाने के पश्चात् आचार्यश्री एकान्त में चिन्तन करने लगे—
मुनि सिद्धसेन को समझाने के लिए मुझे ही जाना पड़ेगा।

उन्होंने शिष्यों को बुलाया और कहा–
मैं कुछ दिन के लिए अकेला अन्यत्र जाना चाहता हूँ। गच्छ का भार तुम्हारे कंधों पर है।
जो आज्ञा गुरुदेव!
आचार्यश्री एक वृद्ध ब्राह्मण के वेष में घूमते-घूमते कूर्मार नगर पहुँचे। राजमार्ग पर सैकड़ों लोगों से घिरे आचार्य सिद्धसेन राजसभा की तरफ जा रहे थे। आचार्यश्री उनके सामने आये और बोले–
वादिगज केसरी दिवाकर सिद्धसेन को ब्राह्मण का प्रणाम।
आचार्य सिद्धसेन ने चौंककर ब्राह्मण की तरफ देखा।
ओह! इतनी मधुर ललित भाषा बोलने वाले कौन हैं आप?
आपकी कीर्ति सुनकर बहुत दूर से आया हूँ। एक सन्देह का समाधान चाहता हूँ?
बोलो विप्रदेव! सर्वज्ञपुत्र के समक्ष तुम अपनी सभी शंकाओं का समाधान पा सकते हो।
इसी विश्वास के साथ दूर देशान्तर से चलकर आया हूँ।

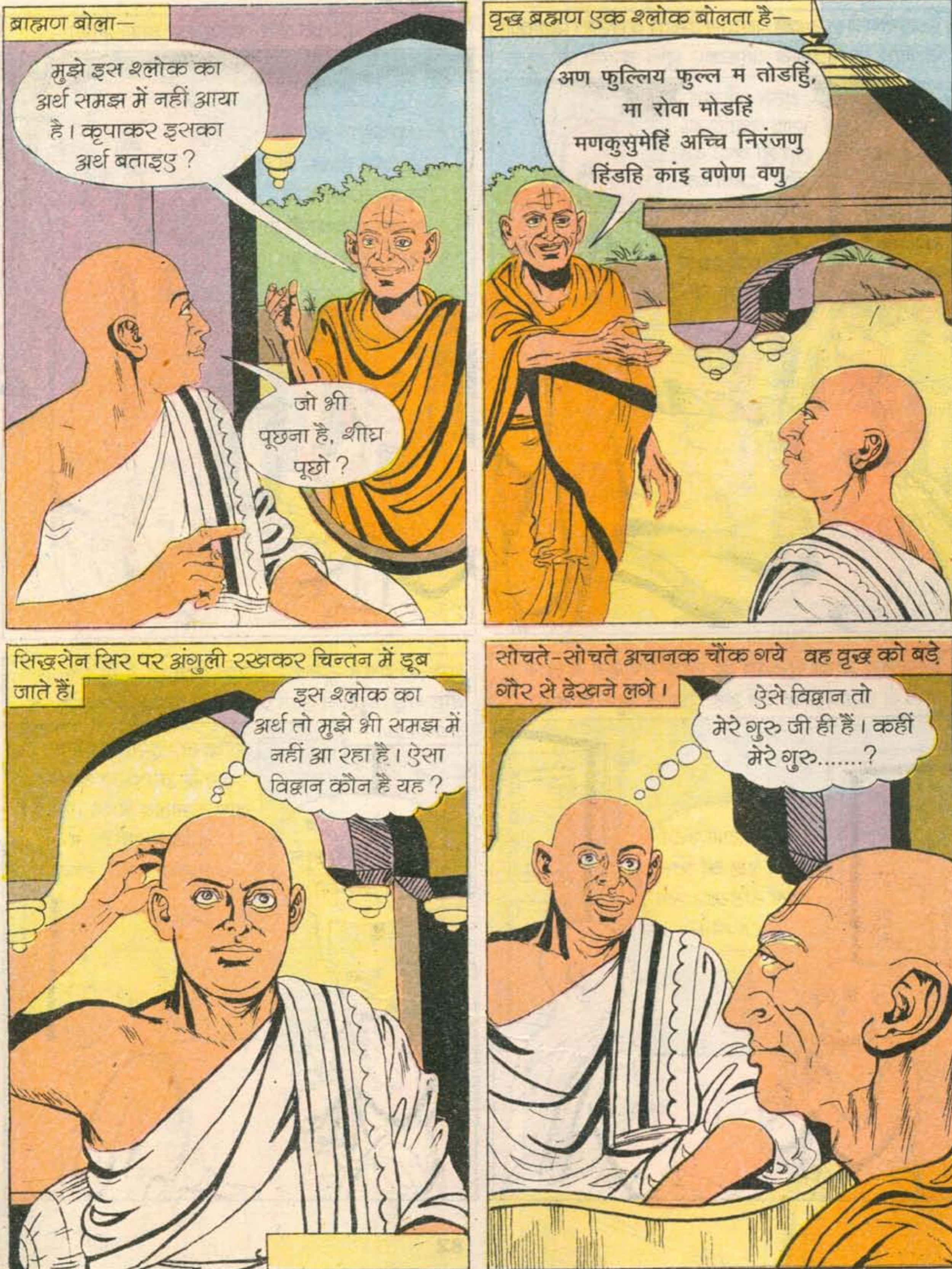

यह मानव जीवन कोमल पुष्पों की लता है। राजसत्कार और सुख सुविधारूपी कच्चे फलों को तोड़कर इसका नाश मत करो। मनरूपी उद्यान को सुख भोग से मत सुखाओ! मनके सद्गुण रूपी फूलों से निरंजन भगवान की अर्चना करो। तुम संसाररूपी वन में क्यों भटक रहे हो?

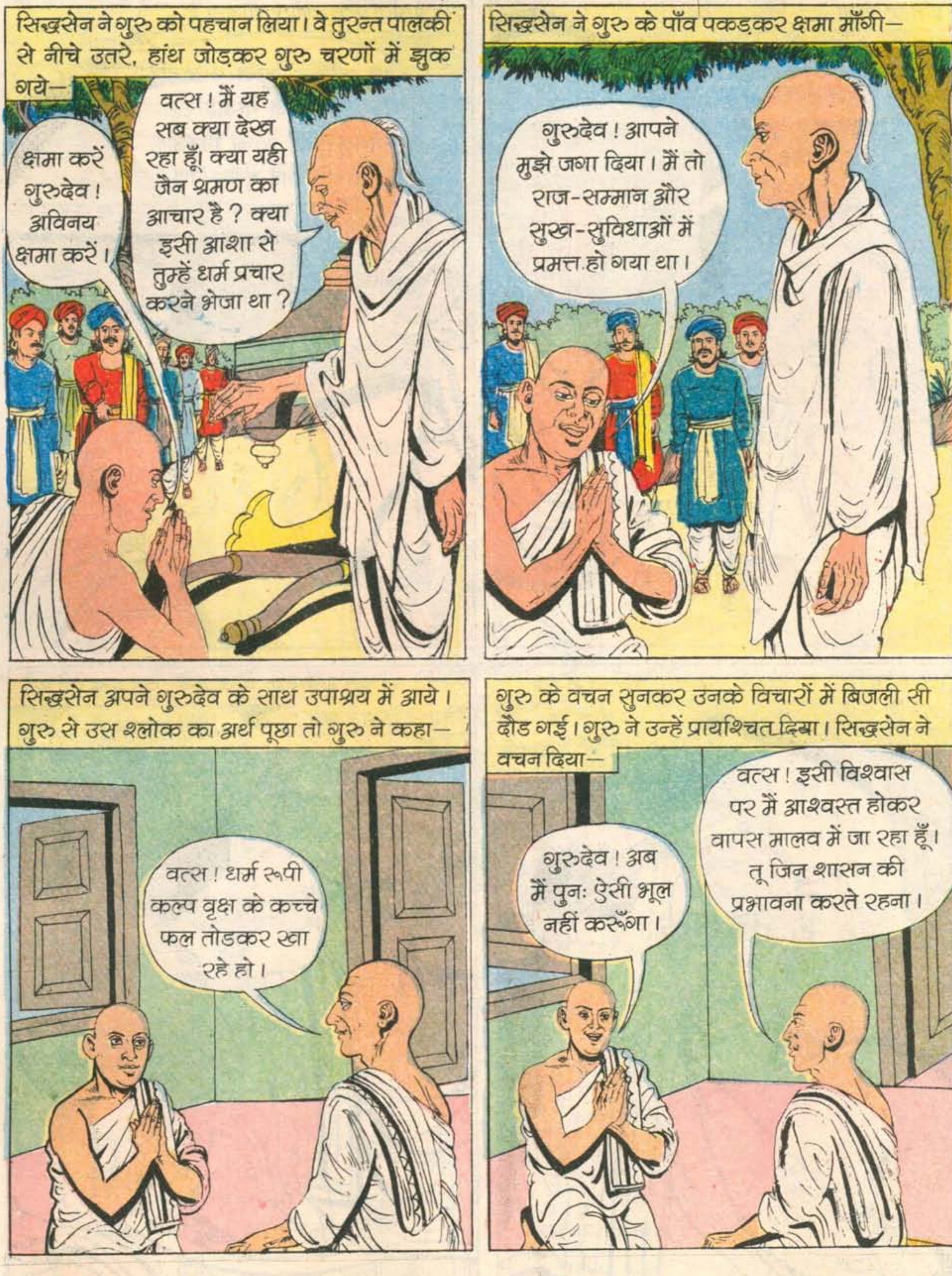
सिद्धसेन ने गुरु को पहचान लिया। वे तुरन्त पालकी से नीचे उतरे, हांथ जोड़कर गुरु चरणों में झुक गये—
वत्स ! मैं यह सब क्या देख रहा हूँ। क्या यही जैन श्रमण का आचार है ? क्या इसी आशा से तुम्हें धर्म प्रचार करने भेजा था ?
क्षमा करें गुरुदेव ! अविनय क्षमा करें।
सिद्धसेन ने गुरु के पाँव पकड़कर क्षमा माँगी—
गुरुदेव ! आपने मुझे जगा दिया। मैं तो राज-सम्मान और सुख-सुविधाओं में प्रमत्त हो गया था।
सिद्धसेन अपने गुरुदेव के साथ उपाश्रय में आये। गुरु से उस श्लोक का अर्थ पूछा तो गुरु ने कहा—
वत्स ! धर्म रूपी कल्प वृक्ष के कच्चे फल तोडकर खा रहे हो।
गुरु के वचन सुनकर उनके विचारों में बिजली सी दौड गई। गुरु ने उन्हें प्रायश्चित दिया। सिद्धसेन ने वचन दिया—
गुरुदेव ! अब मैं पुनः ऐसी भूल नहीं करूँगा।
वत्स ! इसी विश्वास पर मैं आश्वस्त होकर वापस मालव में जा रहा हूँ। तू जिन शासन की प्रभावना करते रहना।

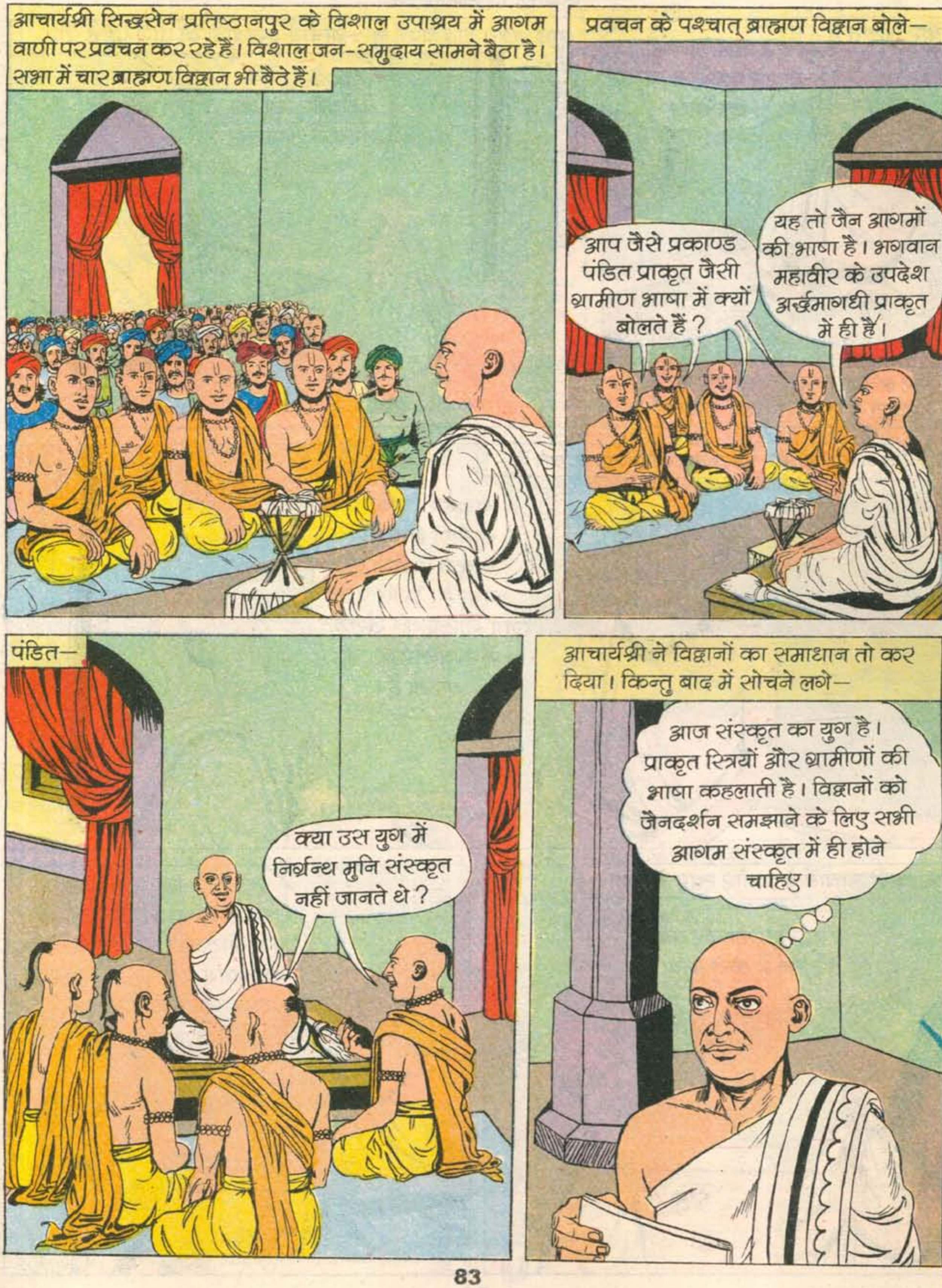
आचार्यश्री सिद्धसेन प्रतिष्ठानपुर के विशाल उपाश्रय में आगम वाणी पर प्रवचन कर रहे हैं। विशाल जन-समुदाय सामने बैठा है। सभा में चार ब्राह्मण विद्वान भी बैठे हैं।
प्रवचन के पश्चात् ब्राह्मण विद्वान बोले—
आप जैसे प्रकाण्ड पंडित प्राकृत जैसी ग्रामीण भाषा में क्यों बोलते हैं ?
यह तो जैन आगमों की भाषा है। भगवान महावीर के उपदेश अर्द्धमागधी प्राकृत में ही हैं।
पंडित—
क्या उस युग में निर्ग्रन्थ मुनि संस्कृत नहीं जानते थे ?
आचार्यश्री ने विद्वानों का समाधान तो कर दिया। किन्तु बाद में सोचने लगे—
आज संस्कृत का युग है। प्राकृत स्त्रियों और ग्रामीणों की भाषा कहलाती है। विद्वानों को जैनदर्शन समझाने के लिए सभी आगम संस्कृत में ही होने चाहिए।

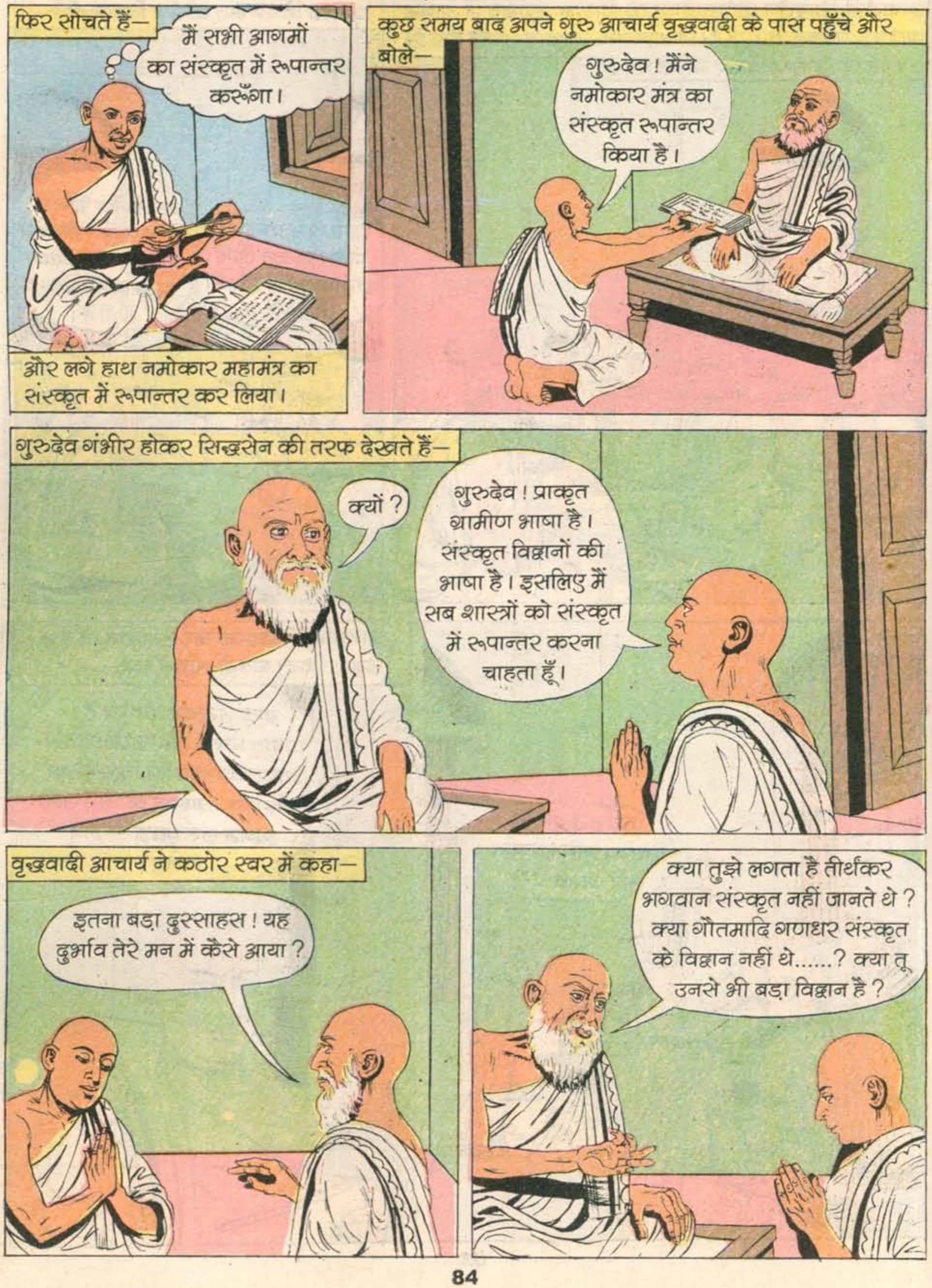
फिर सोचते हैं—
मैं सभी आगमों का संस्कृत में रूपान्तर करूँगा।
और लगे हाथ नमोकार महामंत्र का संस्कृत में रूपान्तर कर लिया।
कुछ समय बाद अपने गुरु आचार्य वृद्धवादी के पास पहुँचे और बोले—
गुरुदेव ! मैंने नमोकार मंत्र का संस्कृत रूपान्तर किया है।
गुरुदेव गंभीर होकर सिद्धसेन की तरफ देखते हैं—
क्यों ?
गुरुदेव ! प्राकृत ग्रामीण भाषा है। संस्कृत विद्वानों की भाषा है। इसलिए मैं सब शास्त्रों को संस्कृत में रूपान्तर करना चाहता हूँ।
वृद्धवादी आचार्य ने कठोर स्वर में कहा—
इतना बड़ा दुस्साहस ! यह दुर्भाव तेरे मन में कैसे आया ?
क्या तुझे लगता है तीर्थंकर भगवान संस्कृत नहीं जानते थे ? क्या गौतमादि गणधर संस्कृत के विद्वान नहीं थे......? क्या तू उनसे भी बड़ा विद्वान है ?

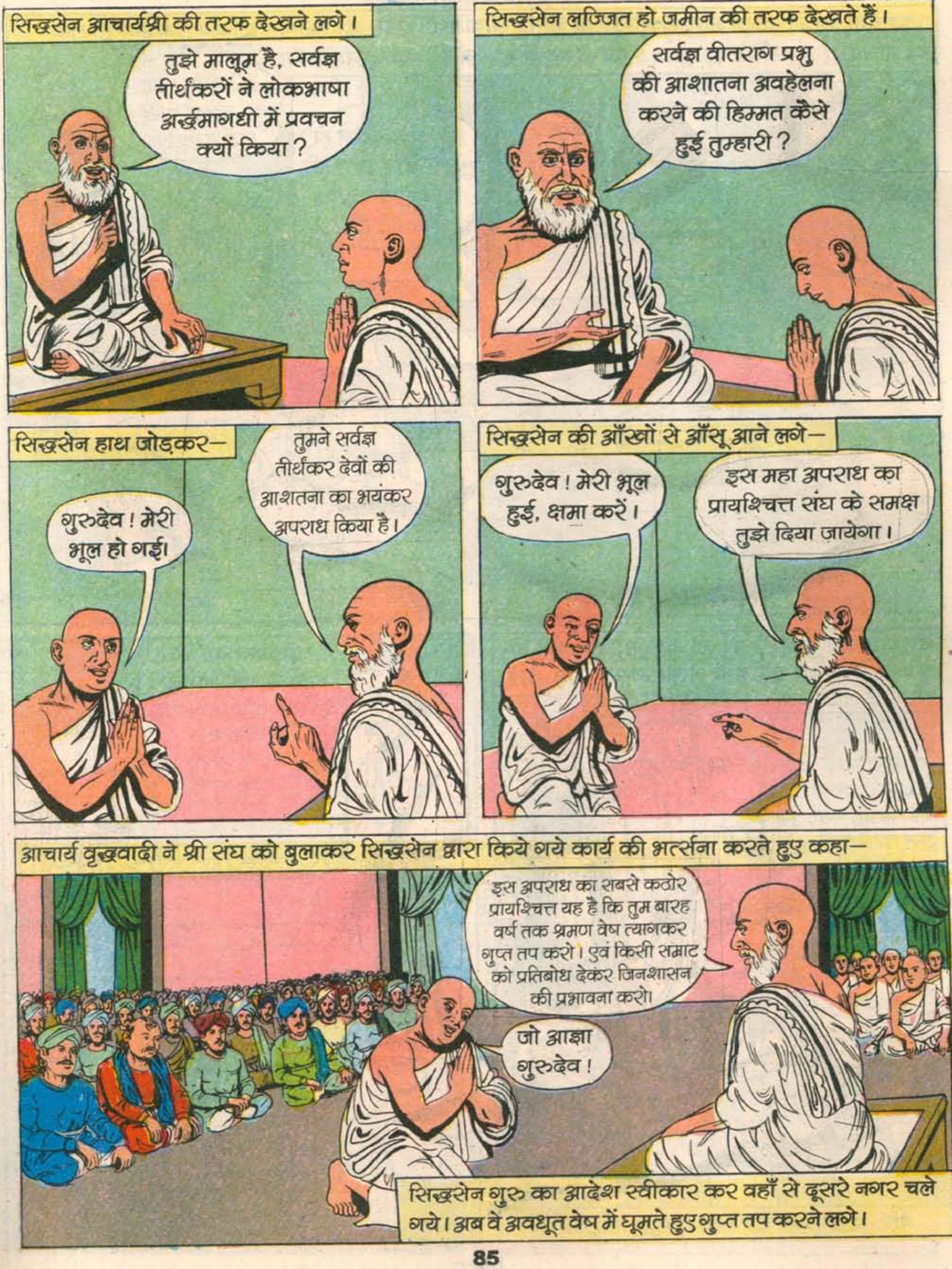

सिद्धसेन आचार्यश्री की तरफ देखने लगे।
तुझे मालूम है, सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने लोकभाषा अर्द्धमागधी में प्रवचन क्यों किया ?
सिद्धसेन लज्जित हो जमीन की तरफ देखते हैं।
सर्वज्ञ वीतराग प्रभु की आशातना अवहेलना करने की हिम्मत कैसे हुई तुम्हारी ?
सिद्धसेन हाथ जोड़कर–
गुरुदेव ! मेरी भूल हो गई।
तुमने सर्वज्ञ तीर्थंकर देवों की आशतना का भयंकर अपराध किया है।
सिद्धसेन की आँखों से आँसू आने लगे–
गुरुदेव ! मेरी भूल हुई, क्षमा करें।
इस महा अपराध का प्रायश्चित्त संघ के समक्ष तुझे दिया जायेगा।
आचार्य वृद्धवादी ने श्री संघ को बुलाकर सिद्धसेन द्वारा किये गये कार्य की भर्त्सना करते हुए कहा–
इस अपराध का सबसे कठोर प्रायश्चित्त यह है कि तुम बारह वर्ष तक श्रमण वेष त्यागकर गुप्त तप करो। एवं किसी सम्राट को प्रतिबोध देकर जिनशासन की प्रभावना करो।
जो आज्ञा गुरुदेव !
सिद्धसेन गुरु का आदेश स्वीकार कर वहाँ से दूसरे नगर चले गये। अब वे अवधूत वेष में घूमते हुए गुप्त तप करने लगे।

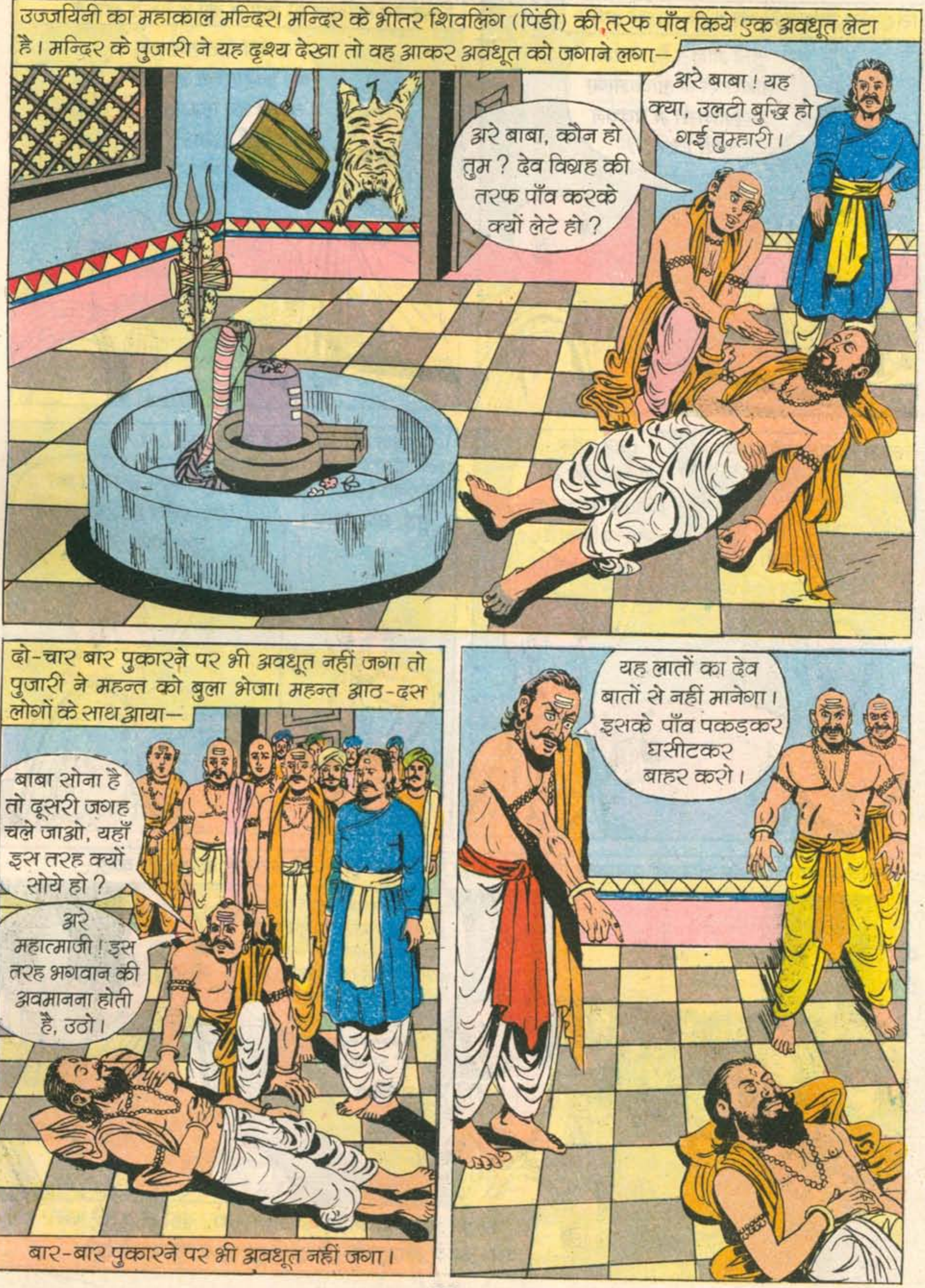

उज्जयिनी का महाकाल मन्दिर। मन्दिर के भीतर शिवलिंग (पिंडी) की तरफ पाँव किये एक अवधूत लेटा है। मन्दिर के पुजारी ने यह दृश्य देखा तो वह आकर अवधूत को जगाने लगा—
अरे बाबा ! यह क्या, उलटी बुद्धि हो गई तुम्हारी।
अरे बाबा, कौन हो तुम ? देव विग्रह की तरफ पाँव करके क्यों लेटे हो ?
दो-चार बार पुकारने पर भी अवधूत नहीं जगा तो पुजारी ने महन्त को बुला भेजा। महन्त आठ-दस लोगों के साथ आया—
बाबा सोना है तो दूसरी जगह चले जाओ, यहाँ इस तरह क्यों सोये हो ?
अरे महात्माजी ! इस तरह भगवान की अवमानना होती है, उठो।
बार-बार पुकारने पर भी अवधूत नहीं जगा।
यह लातों का देव बातों से नहीं मानेगा। इसके पाँव पकड़कर घसीटकर बाहर करो।

दो लोग पाँव पकडकर उठाने की चेष्टा करते हैं—
दम लगाकर खींचो। घसीटकर फैंक दो बाहर।
अरे! इसका पाँव तो अंगद का पाँव है क्या? हिल ही नहीं रहा है।
चार-छह लोगों ने मिलकर अवधूत का पाँव हिलाने की चेष्टा की, किन्तु वह टस से मस नहीं हुआ।
महन्त जी! पसीना छूट गया हमें तो, यह तो हिल भी नहीं रहा है।
जरूर कोई अघोरी बाबा है। जाओ, महाराज विक्रमादित्य को सूचना दो।
दो राजपुरुषों ने आकर महाराज से निवेदन किया—
महाराज! कोई अघोरी बाबा महाकालेश्वर की प्रतिमा की तरफ पाँव करके सोया है, लाख उठाने पर भी उठ नहीं रहा है।
ऐसा धूर्त पाखण्डी कौन है? उसे कोड़ों से मार-मारकर उठाओ और पकड़कर हमारे सामने लाओ।
राजपुरुष मन्दिर में आकर अवधूत पर कोड़े बरसाने लगे। अवधूत ने करवट लेकर पीठ ऊपर कर दी।
नहीं उठता तो मत उठ!
अब कोड़ों का मजा चख!
इतनी कोड़ों से मार पड़ने पर भी अवधूत टस से मस नहीं हुआ।

अचानक विक्रमादित्य के महलों में चीख पुकार उठने लगी। महारानी चिल्लाईं–
अरे ! कोई हमें मार रहा है ? पीठ पर कोड़ों से पिटाई कर रहा है।
रानीजी, यहाँ तो कोई भी नहीं है
दासियाँ घबरा गईं। दौड़कर राजा के पास समाचार दिया–
महाराज ! राजमहल में कोहराम मच रहा है। कोई दुष्ट असुर या मायावी पुरुष रानीजी की पीठ पर कोड़ों से मार रहा है।
महाराज ! महारानी की चमड़ी पर लाल-लाल निशान पड़ गये हैं। पता नहीं अदृश्य रूप में कौन मायावी है ?
विक्रमादित्य एक क्षण सिर पर हाथ रखकर सोचता है–
यह सब उस अवधूत की माया तो नहीं है ?
वह तत्काल दौड़कर महाकाल मन्दिर में पहुँचा।
ठहरो ! रुक जाओ ! अवधूत को पीटो मत।

राजा पास में आकर देखता है—
अवधूत वेष में यह कोई सिद्ध योगी लगता है।
राजा ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया—
महात्मन् ! आप जो भी हैं, अपना परिचय दीजिए। यों देव प्रतिमा का अपमान क्यों कर रहे हैं ?
अवधूत ने आँखें खोलकर राजा की तरफ देखा—
फिर आँखें मूँदकर करवट बदल ली।
हे योगीश्वर ! भगवान महाकाल की भक्ति से तो स्वर्ग-मोक्ष के सभी सुख प्राप्त होते हैं। इनका अपमान तो घोर पाप है।
यह सुन कर अवधूत उठ गया—
राजन् ! स्वर्ग-मोक्ष के सुख कोई देव या महादेव नहीं देते। वह तो मनुष्य अपने पुरुषार्थ से ही प्राप्त करता है।

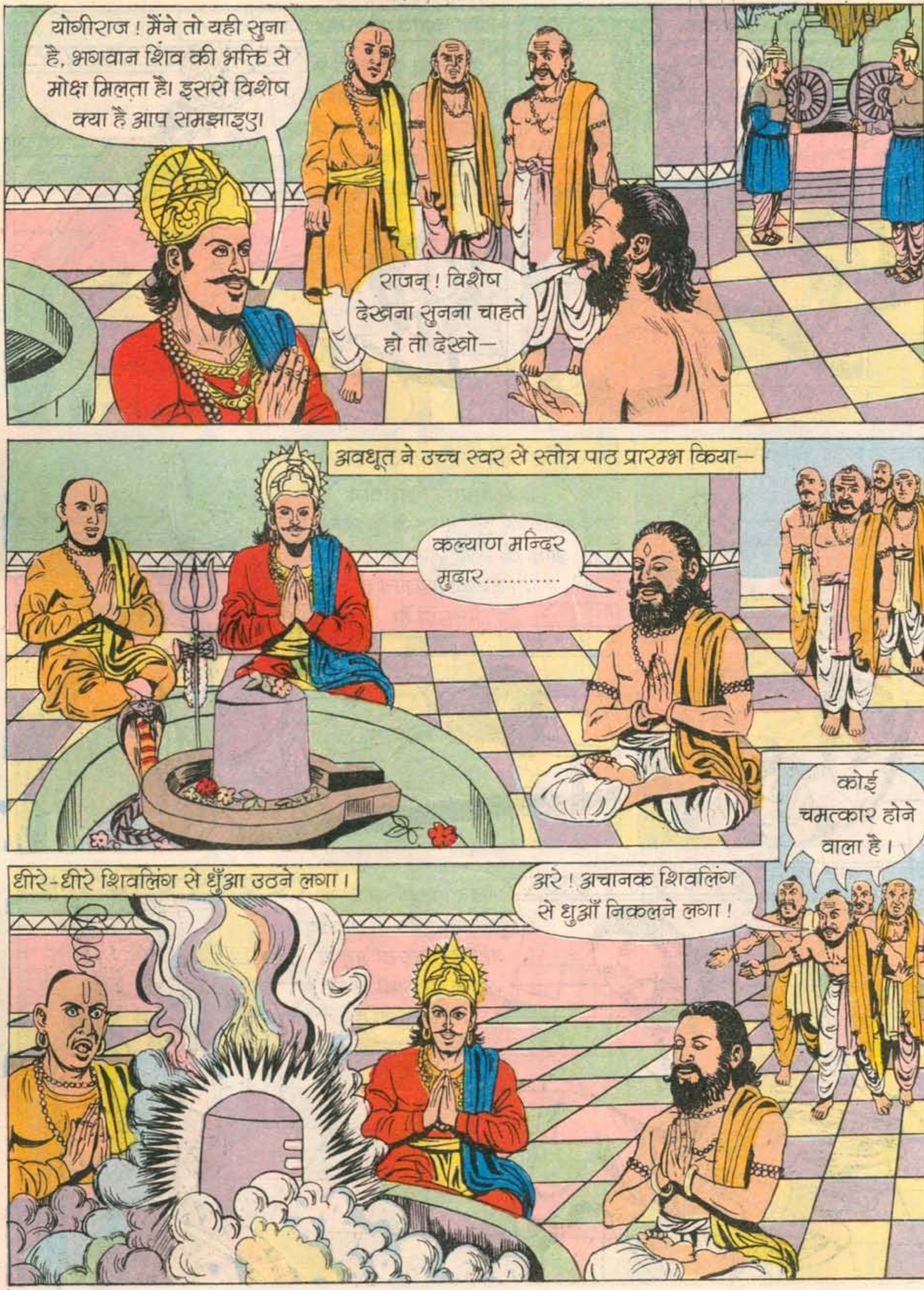

योगीराज ! मैंने तो यही सुना है, भगवान शिव की भक्ति से मोक्ष मिलता है। इससे विशेष क्या है आप समझाइए।
राजन् ! विशेष देखना सुनना चाहते हो तो देखो–
अवधूत ने उच्च स्वर से स्तोत्र पाठ प्रारम्भ किया–
कल्याण मन्दिर मुदार............
कोई चमत्कार होने वाला है।
धीरे-धीरे शिवलिंग से धुँआ उठने लगा।
अरे ! अचानक शिवलिंग से धुआँ निकलने लगा !

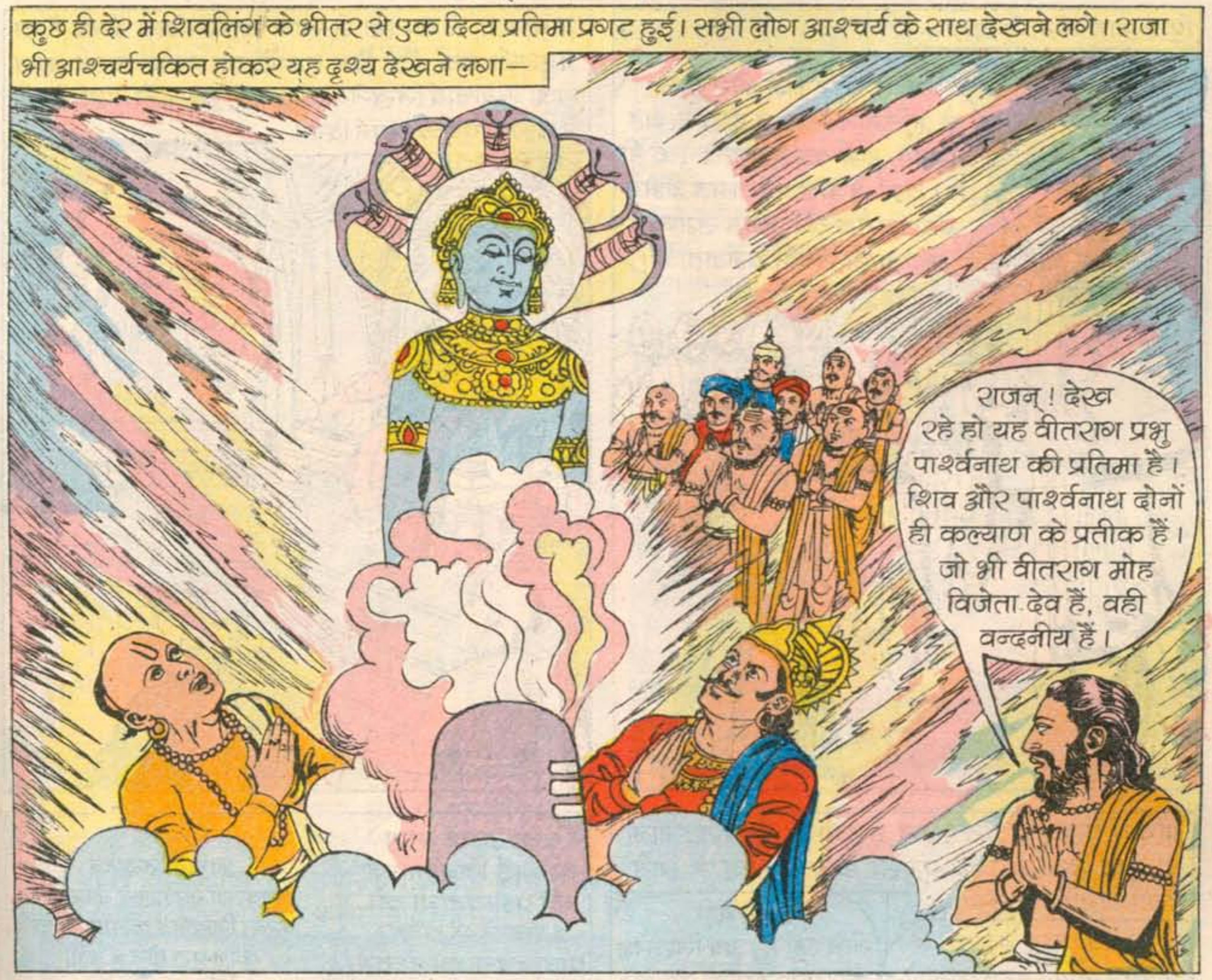
कुछ ही देर में शिवलिंग के भीतर से एक दिव्य प्रतिमा प्रगट हुई। सभी लोग आश्चर्य के साथ देखने लगे। राजा भी आश्चर्यचकित होकर यह दृश्य देखने लगा–
राजन् ! देख रहे हो यह वीतराग प्रभु पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। शिव और पार्श्वनाथ दोनों ही कल्याण के प्रतीक हैं। जो भी वीतराग मोह विजेता देव हैं, वही वन्दनीय हैं।

राजा विक्रमादित्य ने अवधूत को नमस्कार किया–
हे योगीश्वर ! अपना परिचय दीजिए। आपने यह सब चमत्कार किस प्रयोजन से बताया है ?

आचार्य सिद्धसेन ने अपना परिचय दिया। राजा विक्रमादिय भाव विभोर होकर उनके चरणों में नतमस्तक हो गया।
राजन् ! वीतराग देव का स्वरूप समझकर उसकी पूजा अर्चा करो यही शिव (कल्याण) का मार्ग है।

कहा जाता है कि आचार्य सिद्धसेन ने जिस स्तोत्र की रचना की वह कल्याण मन्दिर स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस स्तोत्र का ग्यारहवाँ काव्य बोलने पर शिवलिंग से पार्श्वनाथ प्रतिमा प्रगट हुई। यह प्रतिमा आज भी उज्जयिनी के जिन मन्दिर में अवन्ति पार्श्वनाथ के रूप में प्रतिष्ठित है। यह घटना शिव और पार्श्वनाथ की एकरूपता तथा तदाकारता सूचित करती है। भेद में अभेद को समझने का संकेत करती है यह।

वृद्धवादी गुरु की स्वीकृति पाकर प्रमुख श्रावकों ने उज्जयिनी जाकर आचार्य श्री से विनती की–
आपने जिनशासन की जो प्रभावना की है उससे गुरुदेव सहित समस्त संघ अत्यन्त प्रसन्न है...। संघ आपका बहुत आभारी है।
मेरे लिये गुरुदेव की क्या आज्ञा है ?
आप संघ के आचार्य पद को पुनः शोभित करें। गुरुदेव और सकलश्री संघ की यही अपेक्षा है।
गुरुदेव की आज्ञा व संघ का आदेश स्वीकार करना मेरा कर्तव्य होगा।
शुभ दिन में समारोह पूर्वक आचार्य सिद्धसेन पुनः संघ के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। इस समारोह में राजा विक्रमादित्य ने उपस्थित होकर आचार्यश्री को सम्मान की कांबली (शाल) ओढायी।
आचार्यश्री आपने उज्जयिनी में धर्म की गंगा प्रवाहित की, इसके लिए हम आपके ऋणी हैं।
राजन ! धर्म मार्ग पर चलना ही सबसे बड़ी गुरु सेवा है।
कुछ दिन बाद सिद्धसेन अपने गुरु वृद्धवादी गुरु के दर्शनों के लिये भृगुकच्छ की तरफ चल पड़े। रास्ते में ही उन्हें समाचार मिला।
आचार्यश्री, गुरुदेव का स्वर्गवास हो गया है।
ओह ! मैं अपने गुरु के अन्तिम दर्शन नहीं कर सका !

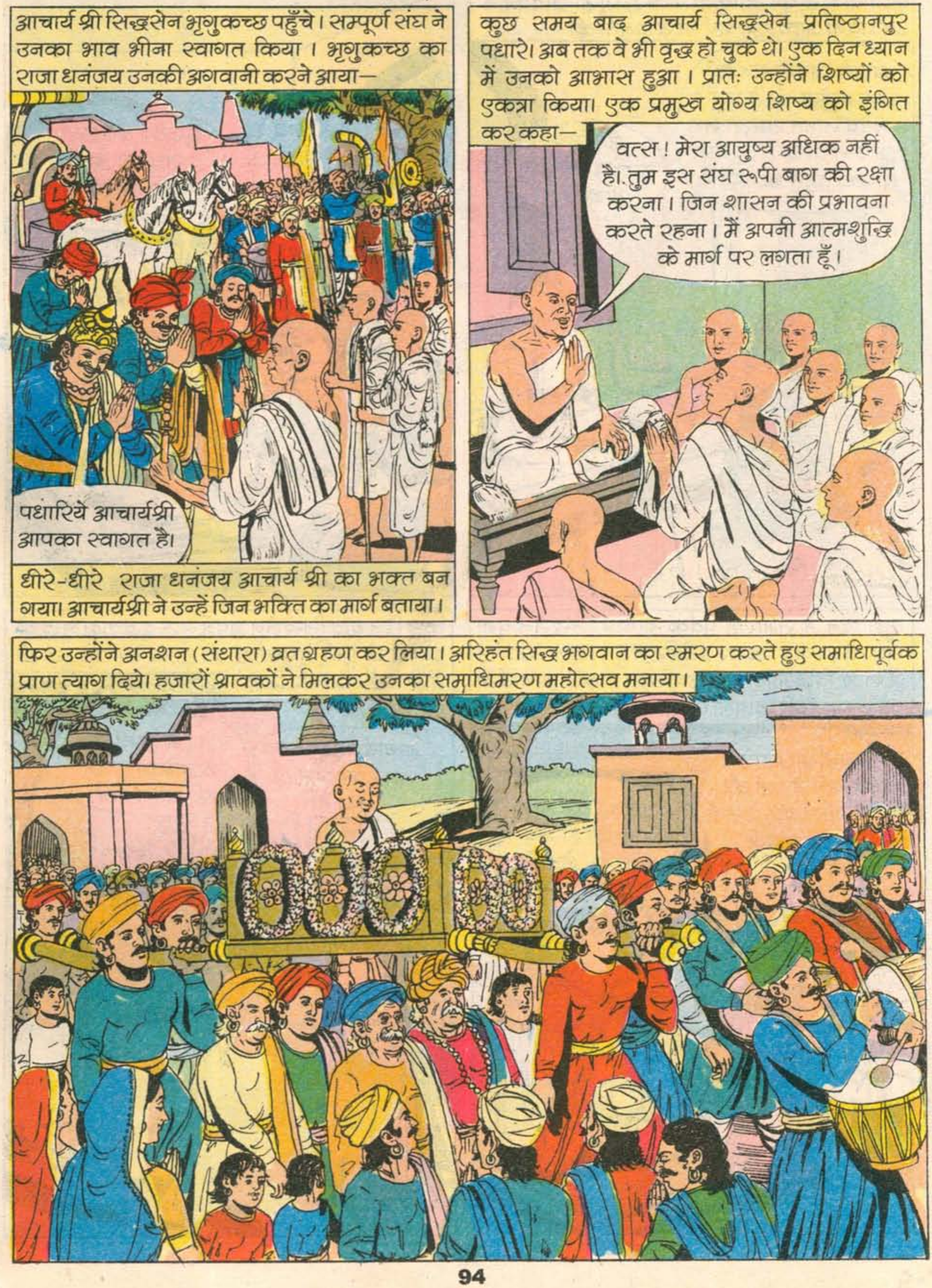
आचार्य श्री सिद्धसेन भृगुकच्छ पहुँचे। सम्पूर्ण संघ ने उनका भाव भीना स्वागत किया । भृगुकच्छ का राजा धनंजय उनकी अगवानी करने आया–
पधारिये आचार्यश्री आपका स्वागत है।
धीरे-धीरे राजा धनंजय आचार्य श्री का भक्त बन गया। आचार्यश्री ने उन्हें जिन भक्ति का मार्ग बताया।
कुछ समय बाद आचार्य सिद्धसेन प्रतिष्ठानपुर पधारे। अब तक वे भी वृद्ध हो चुके थे। एक दिन ध्यान में उनको आभास हुआ । प्रातः उन्होंने शिष्यों को एकत्रा किया। एक प्रमुख योग्य शिष्य को इंगित कर कहा–
वत्स ! मेरा आयुष्य अधिक नहीं है। तुम इस संघ रूपी बाग की रक्षा करना । जिन शासन की प्रभावना करते रहना । मैं अपनी आत्मशुद्धि के मार्ग पर लगता हूँ।
फिर उन्होंने अनशन (संथारा) व्रत ग्रहण कर लिया। अरिहंत सिद्ध भगवान का स्मरण करते हुए समाधिपूर्वक प्राण त्याग दिये। हजारों श्रावकों ने मिलकर उनका समाधिमरण महोत्सव मनाया।

स्फुरन्ति वादिखद्योता साम्प्रतं दक्षिणापथे।

नूनमस्तंगतो वादी सिद्धसेनो दिवाकरः॥

राजा विक्रमादित्य ने अनेक दान शालायें खुलवायीं, पद यात्रा संघों का आयोजन किया और जिनशासन की प्रभावना के बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किये। वह अपने पराक्रम, पुरुषार्थ, आत्मविश्वास, नीति परायणता, प्रजा वत्सल्यता, आदि गुणों से इतिहास में अमर बन गया। जीवन के पचासवें वर्ष में उसने भारत भूमि से शक राज्य को समाप्त कर शकारि विरुद प्राप्त किया और उस दिन दिग्विजय की स्मृति में विक्रम संवत् प्रारम्भ किया।

आधार भूत ग्रंथ—जैनधर्म के प्रभावक आचार्य (साध्वी संघमित्रा, पृ. ३५६–७३, प्रभावक चरित्र तथा प्रबंधकोश) के आधार पर लिखित ।

श्री कल्याण-मन्दिर स्तोत्र

(श्री सिद्धसेन दिवाकर प्रणीतम्)

कल्याण-मन्दिरमुदारमवद्यभेदि, भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रि-पद्मम्।
संसार-सागर-निमज्जदशेष-जन्तु, पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य।।१।।

कल्याण के मन्दिर, उदार, पापों का नाश करने वाले, दुःखों के भय से आकुल प्राणियों को अभय प्रदानकरने वाले, सर्वत्र प्रशंसनीय, संसाररूपी सागर में डूबते हुए सभी प्राणियों के लिये जहाज के समान आधारभूत, श्री जिनेश्वरदेव के चरण-कमलों को भलीभाँति नमस्कार करके......... ।।१।।

यस्य स्वयं सुर-गुरुर्गरिमाम्बुराशेः, स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर् न विभुर् विधातुम्।
तीर्थेश्वरस्य कमठ-स्मय-धूमकेतो स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये।।२।।

जो कमठ दैत्य के अभिमान को भस्म करने के लिये धूमकेतु के समान थे। जिनके गुणों की गरिमा सागर के समान अपार थी। जिनकी स्तुति करने के लिये अतिशय बुद्धिशाली देवताओं के गुरु स्वयं बृहस्पति भी समर्थ नहीं हो सके, उन तीर्थपति पार्श्वनाथ भगवान की मैं स्तुति करूँगा।।२।।

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-मस्मादृशाः कथमधीश ! भवन्त्यधीशाः।
धृष्टोऽपि कौशिक-शिशुर् यदि व दिवान्धो, रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मे :?।।३।।

हे स्वामी ! आपके अनन्त स्वरूप को साधारण रूप से भी वणन करने के लिये हमारे जैसे पामर प्राणी कैसे समर्थ हो सकते हैं? दिन में अन्धा रहने वाला उल्लू क बच्चा कितना ही धीठ क्यों न हो, क्या वह प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य के उज्ज्वल स्वरूप का वर्णन कर सकता है? नहीं कर सकता।।३।।

मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ ! मर्त्यो, नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्माद् मीयेत केन जलधेर् ननु रत्नराशिः?।।४।।

जैसा कि प्रलय के समय जब समुद्र पानी से बिलकुल खाली हो जाता है उस समय समुद्र में जितने रत्न हैं, वे सामने दीखने पर भी उनकी गणना नहीं हो सकती। उसी प्रकार हे नाथ ! मोहनीय कर्म के क्षय होने से यद्यपि मनुष्य को आपके स्वरूप का प्रतिभास होने लगता है, तो भी आपके गुणों की गणना नहीं हो सकती है, क्योंकि आपके गुण अनन्त हैं।।४।।

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ ! जडाशयोऽपि, कर्तुं स्तवं लसदसंख्य-गुणाकरस्य।
बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य, विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ?।।५।।

जैसा कि बालक अपनी भुजाएं फैलाकर छोटी बुद्धि के अनुसार समुद्र के विस्तार को बतलाता है। उसी तरह हे स्वामी ! मैं अल्प-बुद्धि होकर भी आप जैसे अनन्त गुण सागर की स्तुति करने का प्रयास करता हूँ ।।५।।

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश ! वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः ?
जाता तदेवमसमीक्षित-कारितेयं, जल्पन्ति वा निज-गिरा ननु पक्षिणोऽपि।।६।।

हे जगत् के स्वामी ! आपके गुणों का यथार्थ वर्णन करने में तो योगी भी समर्थ नहीं है। तब भला मेरी शक्ति कहाँ है ? इस स्तुति का यह कार्य मैंने बिना विचारे ही शुरू कर दिया है; वस्तुतः यह कार्य मेरी पहुँच के बाहर है। मुझ में भले ही इतनी शक्ति नहीं है, फिर भी प्रयत्न तो करूँगा ही, जैसे पक्षी मनुष्य-सी स्पष्ट भाषा बोलना नहीं जानता तो क्या हुआ, अस्पष्ट भाषा बोलकर भी अपना काम चलाता ही है।।६।।

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते, नामाऽपि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहत-पान्थ-जनान्निदाघे, प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि।।७।।

जिस प्रकार ग्रीष्म में आतप से सताये हुए पुरुषों को कमलयुक्त सरोवर ही शान्ति देने वाले नहीं होते, अपितु उनका शीतल पवन भी सुखप्रद होता है। उसी प्रकार हे भगवन् ! आपका स्तवन ही प्रभावशाली नहीं है अपितु आपका नाम भी संसार के दुःखों से बचाता है।।७।।

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिली भवन्ति, जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्म-बन्धाः।
सद्यो भुजङ्गममया इव मध्यभाग-मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य।।८।।

प्रंभो ! आप जिसके हृदय में आकर विराजमान हो जाते हैं, उसके जन्म जन्म के कर्मबन्धन ढीले पड़ जाते हैं, अर्थात् वह हलुकर्मी हो जाता है जैसे कि वन में चन्दन वृक्ष पर सांप लिपटे रहते हैं, किंतु मोर को पास आया देखते ही वृक्ष को छोड़कर वे दूर-दूर भागने लग जाते हैं।।८।।

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र ! रौद्रैरुपद्रवशतैस् त्वयि वीक्षितेऽपि।
गो-स्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे, चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः।।६।।

हे जिनेन्द्र ! आपके दर्शनमात्र से भक्तजन सैकड़ों भयंकर उपद्रवों से शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं। गाँव के पशुओं को चोर चुराकर ले जाते हैं, किन्तु ज्यों ही बलवान तेजस्वी ग्वाला दिखाई देता है, त्यों ही पशुओं को छोड़कर वे चोर झटपट भाग खड़े होते हैं। मालिक के सामने कहीं चोर ठहर सकते हैं ? कदापि नहीं।।६।।

त्वं तारको जिन ! कथं भविनां त एव, त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून-मन्तर्गतस्य मरुतः सः किलानुभावः।।१०।।

हे देव ! आप भव्यजनों को संसार-सागर से पार उतारने वाले तारक कैसे बन सकते हैं ? क्योंकि भव्य जीव जब संसार-सागर से पार उतरते हैं, तब वही आपको अपने हृदय में धारण करते हैं। हां, समझ में आ गया। अन्दर से पवन से भरी हुई मशक जब जल में तैरती है, तब वह अन्दर में स्थित पवन के प्रभाव से ही तो तैरती हैं। उसी प्रकार हृदय में आपको धारण करने के कारण ही जीव संसार-सागर को पार करते हैं।।१०।।

यस्मिन् हर-प्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः, सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन, पीतं न किं तदपि दुर्धर-वाडवेन ?।।११।।

जैसे जो जल अग्नि को बुझाता है और उस जल को भी बड़वानल सोख लेती है। इसी तरह से हे भगवन् ! जिस कामदेव ने समस्त हरि-हरादिक देवों को जीत लिया है उस कामदेव को भी आपने क्षणभर में पराजित कर दिया है।।११।।

स्वामिन्ननल्प-गरिमाणमपि प्रपन्नास्, त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः ?
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन, चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः।।१२।।

आश्चर्य है कि अनंतानंत गरिमायुक्त आपको अपने हृदय में धारण करके भव्यात्माएँ संसार-सागर को बहुत ही आसानीपूर्वक कैसे तिर जाते हैं ? ठीक ही कहा है—महापुरुषों का प्रभाव अचिन्त्य होता है।।१२।।

क्रोधस्त्वया यदि विभो ! प्रथमं निरस्तो, ध्वस्तास्तदा वत कथं किल कर्म-चौराः ?
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके, नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानि ?।।१३।।

हे प्रभो ! आपने क्रोध को पहले ही नष्ट कर दिया है; तो फिर बताइये कि विना क्रोध किये कर्मरूपी चोरों को कैसे नष्ट किया ? ठीक है; क्रोध की अपेक्षा क्षमा की शक्ति महान् है, आग की अपेक्षा हिम—बर्फ की शक्ति अतुल्य है। बर्फ ठण्डा होने पर भी क्या हरे-भरे वृक्षों और पत्तों को नहीं जला देता है ?।।१३।।

त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूप-मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुज-कोशदेशे।
पूतस्य निर्मलरुचेर्यदि वा किमन्य-दक्षरस्य संभविपदं ननु कर्णिकायाः।।१४।।

हे प्रभो ! बड़े-बड़े योगी लोग अपने हृदय-कमल की कर्णिका (मध्य) में आपका ध्यान करते हैं। ठीक है; पवित्र और उज्ज्वल कांति वाले कमल के बीज का उत्पत्ति स्थान कमल की कर्णिका को छोड़कर अथवा शुद्धात्मा की खोज करने का स्थान, हृदय-कमल की कर्णिका को छोड़कर दूसरा क्या हो सकता है ?।।१४।।

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन, देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके, चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः।।१५।।

जैसे स्वर्णकार अशुद्ध मिट्टी मिले सोने को अग्नि में डालकर अशुद्धता हटा देता है, तब मिट्टी अलग हो जाने पर शुद्ध सोना प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार हृदय में आपका ध्यान करने से जीव अपनी अशुद्धता को छोड़कर शुद्ध परमात्म-स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।।१५।।

अन्तः सदैव जिन ! यस्य विभाव्यसे त्वं, भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम्।
एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि, यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः।।१६।।

यहाँ विग्रह शब्द के दो अर्थ हैं- एक शरीर तथा दूसरा उपद्रव। आशय यह है कि जिस शरीर का आधार ले करके भव्य पुरुष आपका ध्यान करते हैं उस शरीर को आप क्यों नाश कर देते हैं ? जिस शरीर में आपका ध्यान किया था, आपको चाहिए था कि उसकी रक्षा करते किन्तु आपने उससे विपरीत ही किया। अर्थात् वह प्राणी अशरीरी (शरीर-मुक्त) बन जाता है। दूसरे पक्ष में इसका भाव है—महापुरुष जहाँ बीच में मध्यस्थ होते हैं, उनके विग्रह-कलह शांत हो ही जाते है।।१६।।

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या-ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं, किं नाम नो विषविकारमपाकरोति।।१७।।

हे प्रभो ! मनीषी पुरुष अपनी आत्मा को आपसे अभेदरूप में अर्थात् परमात्मारूप में ध्यान करते हैं, तो उनकी वही साधारण आत्मा भी आप जैसी महान् बन जाती है। पानी को भी यदि सर्वथा अभेद बुद्धि से अमृत समझकर उपयोग में लाया जाए तो क्या वह अमृत के समान विष विकार को दूर नहीं करता है ?।।१७।।

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि, नूनं विभो ! हरिहरादि धिया प्रपन्नाः।
किं काचकामलिभिरीश ! सितोऽपि शंखो, नो गृह्यते विविध-वर्णविपर्ययेण।।१८।।

हे प्रभो ! अन्य मतावलम्बी जो हरि-हरादि देवों की पूजा करते हैं सो मेरी समझ में आप ही को वे अपने मिथ्यात्वादि के प्रभाव से हरि-हरादि समझकर पूजते हैं, जैसे-पीलिया रोग वाला सफेद शंख को भी पीला समझकर ग्रहण करता है।।१८।।

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि, किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः।।१९।।

हे प्रभो ! जिस प्राकर आप धर्मोपदेश करते हैं, उस समय आपके सत्संग के प्रभाव से वृक्ष भी अशोक हो जाता है, तब फिर मानव-समाज के शोकरहित होने में तो आश्चर्य ही क्या ? जैसे सूर्य उदय होता है, तब केवल मानव समाज ही नहीं अपितु कमलादि समस्त जीव-लोक भी प्रबुद्ध हो जाता है (प्रतिहार्य१)।।१९।।

चित्रं विभो ! कथमवाङ्मुखवृन्तमेव, विष्वक् पतत्यविरला सुरपुष्पवृष्टिः।
त्वद् गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश ! गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि।।२०।।

हे प्रभो ! आपके समवसरण में देवकृत पुष्प-वर्षा के फूल सब के सब अपने डण्ठल नीचे की ओर किये हुए ऊर्ध्वमुख ही पड़ते हैं। ठीक है, जब भी कोई सुमन (अच्छे मन वाले) आपके पास आते हैं तो उसके बन्धन सदा नीचे की ओर ही चले जाते हैं इसमें आश्चर्य ही क्या है ? (प्रतिहार्य २)।।२०।।

स्थाने गभीरहृदयोदधि-सम्भवायाः, पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति।
पीत्वा यतः परमसम्मदसंगभाजो, भव्या व्रजन्ति तरसाऽप्यजरामरत्वम्।।२१।।

हे मुनीश ! आपके गंभीर हृदयरूपी समुद्र से उत्पन्न होने वाली आपकी मधुर वाणी को ज्ञानीजन अमृत मानते हैं। वह उचित ही है। जिस प्रकार मनुष्य अमृत का पान कर अजर-अमर हो जाते हैं। उसी प्रकार भव्य जीव भी आपके वचनामृत का पान करके शीघ्र ही जन्म-जरा-मरण के दुःखों से छुटकारा पाते हैं। यह दिव्य ध्वनि प्रातिहार्य का वर्णन है (प्रतिहार्य ३)।।२१।।

स्वामिन् ! सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो, मन्ये वदन्ति शुचयः सुर-चामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनि-पुंगवाय, ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्ध-भावाः।।२२।।

हे प्रभो ! देवताओं द्वारा ढुलाए जाने वाले पवित्र श्वेत चँवर पहले नीचे झुककर फिर ऊपर की ओर जाते हैं। भाव यह है कि जो भव्य आत्माएँ प्रभु के चरणों में नमस्कार करती हैं, झुकती हैं वे निश्चय ही शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर ऊर्ध्व गति को प्राप्त होती हैं (प्रतिहार्य ४)।।२२।।

श्यामं गभीर-गिरमुज्ज्वलहेमरत्न-सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम्।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चैश्-चामीकराद्रि शिरसीव नवाम्बुवाहम्।।२३।।

हे प्रभो ! जब आप रत्नजड़ित स्वर्णमयी सिंहासन पर विराजमान होते हैं और गम्भीर वाणी से धर्मदेशना करते हैं, तब भव्यरूपी मूयर श्याम वर्ण वाले आपको देखकर प्रसन्न होते हैं। लगता है, मानो सुवर्णमय सुमेरु के शिखर पर वर्षाकालीन श्याम मेघ घुमड़ता हुआ जोर-जोर से गरज रहा हो (प्रतिहार्य ५)।।२३।।

उद्गच्छता तव शितद्युतिमण्डलेन, लुप्तच्छद-च्छविरशोकतरुर्बभूव।
सान्निध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग ! नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि।।२४।।

हे नाथ ! आपके दिव्य शरीर से ऊपर की ओर निकलने वाली किरणों के नील प्रभामण्डल से अशोक-तरु के लाल पत्ते भी अपनी रागरूप लालिमा छोड़कर पीले दीखने लगते हैं। उसी प्रकार हे भगवन् ! आपके समीप रहने मात्र से कौन ऐसा सचेतन प्राणी है, जो रागरहित नहीं हो जाता हो ? अर्थात् वीतराग बन जाता है (प्रतिहार्य ६)।।२४।।

भोः भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन-मागत्य निर्वृतिपुरीं प्रतिसार्थवाहम्।
एतन्निवेदयति देव ! जगत्त्रयाय, मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते।।२५।।

हे प्रभो ! आकाश में सब ओर गर्जन करती हुई देव-दुंदुभि तीन जगत् को इस प्रकार सूचना देती है "ये भगवान पार्श्वनाथ मोक्षपुरी के बड़े सार्थवाह हैं। मोक्षपुरी की यात्रा के इच्छुक यात्रियो ! आलस्य त्यागकर इनकी शरण ग्रहण करो" (प्रतिहार्य ७)।।२५।।

उद्द्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ ! तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः।
मुक्ताकलाप-कलितोल्लसितातपत्र-व्याजात्त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः।।२६।

हे प्रभो ! जब आपने अपने दिव्य ज्ञान के प्रकाश से तीनों लोक को प्रकाशित कर दिया है। इससे मानो, मोतियों की झालर से शोभायमान तीन छत्र के बहाने तारों से युक्त अपने अधिकार से भ्रष्ट हुआ, यह चन्द्रमा अपने तीन शरीर धारणकर निश्चयमेव आपकी सेवा कर रहा है (प्रतिहार्य ८)।।२६।।

स्वेन प्रपूरित-जगत्त्रय-पिण्डितेन, कान्ति-प्रताप-यशसामिव संचयेन।
माणिक्य-हेम-रजतप्रविनिर्मितेन, साल-त्रयेण भगवन्नभितो विभासि।।२७।।

हे भगवन् ! आप (समवरण में) अपन चारों ओर के माणिक्य, सुवर्ण और चाँदी से बने हुए तीन कोटों से बहुत ही सुन्दर लगते हो। मानो, आपके शरीर की कांति, आपका प्रताप और आपका यश ही तीनों जगत् में

सर्वत्र फैलने के बाद आगे स्थान न मिलने के कारण आपके चारों ओर तीन कोट के रूप में पिण्डीभूत हो गया है ।।२७।।

दिव्यस्रजो जिन ! नमत्-त्रिदशाधिपाना-मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान्।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वा परत्र, त्वत्संगमे सुमनसो न रमन्त एव।।२८।।

हे नाथ ! जब इन्द्र आपको नमस्कार करते हैं, तब उनकी दिव्य पुष्पमालाएँ रत्नजड़ित मुकुटों का परित्याग कर झटपट आपके श्रीचरणों का आश्रय ले लेती हैं। ठीक है; आपका समागम होने पर (सुमन) फूलमालाएँ अथवा अच्छे मन वाले सज्जन अन्यत्र नहीं रमते हैं।।२८।।

त्वं नाथ ! जन्म-जलधेर्विपराङ्मुखोऽपि, यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान्।
युक्तं हि पार्थिव-निपस्य सतस्तवैव, चित्रं विभो ! यदसि कर्म-विपाकशून्यः।।२९।।

हे प्रभो ! आप संसार-समुद्र से पराङ्मुख (उदासीन) हैं, किंतु फिर भी जो भक्तजन **श्रद्धाभाव से** आपके पीछे लगते हैं अर्थात् आपके अनुगामी होते हैं, उन्हें आप उसी प्रकार तार देते हैं जैसे उलटे घड़ों की पीठ पर नौका बनाकर बैठे हुए प्राणी समुद्र पार कर जाते हैं। यद्यपि मिट्टी का घड़ा (पार्थिव निप) तो विपाक सहित (पका हुआ है) है, किंतु आप तो कर्म विपाक से रहित हैं, फिर भी आपके अनुगामी भव-समुद्र पार कर जाते हैं ।।२९।।

विश्वेश्वरोऽपि जनपालक ! दुर्गतस्त्वं, किं वाऽक्षर-प्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश !
अज्ञानवत्यपि सदैव कथञ्चिदेव, ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकासहेतुः।।३०।।

हे जनपालक ! आप तीन लोक के स्वामी होकर भी दुर्गत अर्थात् निर्धन हो अथवा अक्षर (कभी क्षय नहीं होने वाला तथा अक्षर-वर्ण) स्वभाव होकर भी आप लिखे नहीं जा सकते हैं। हे स्वामिन् ! एक प्रकार से अज्ञानवान् हो तो भी आपमें वह ज्ञान सदा स्फुरायमान रहता है जो तीन लोक के सब पदार्थों की सर्वकालीन सम्पूर्ण पर्यायों को युगपत् जानता है।।३०।।

विशेषार्थ—विरोधालंकार है—**(दुर्गत)** निर्धन अथवा कठिनाई से जाने जा सकते हैं आप **(अक्षर-प्रकृतिः अपि अलिपिः)** अक्षर स्वभाव है तो भी लिखने में नहीं आ सकते अथवा अविनाशी स्वरूप वाले **अलिपिः** निराकार परमात्मा होने के कारण लिखे नहीं जा सकते हैं **(अज्ञान् अवति)** अज्ञजनों की रक्षा करने वाले, अतः आप सर्वज्ञ हो।।३०।।

प्राग्भार-संभृत-नभांसि रजांसि रोषा-दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायाऽपि तैस्तव न नाथ ! हता हताशो, ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा।।३१।।

हे प्रभो ! दुष्ट कमठ ने क्रोध में आकर आप पर भीषण धूलि एवं पत्थर की वर्षा की, जिसके समूह से समग्र आकाश भर गया, परन्तु आपका कुछ भी नहीं बिगड़ा। आपकी छाया भी नहिं ढकी गई, बल्कि वही दुरात्मा कमठ पापों के भार से दुष्कर्मों की खाई में धंस गया।।३१।।

यद्गर्जदूर्जित-घनौघमदभ्र-भीमं, भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसल-घोरधारम्।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे, तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारि कृत्यम्।।३२।।

हे प्रभो ! कमठ ने आपके ऊपर भयंकर जल वर्षा की, ऐसी वर्षा कि जिसमें बड़े-बड़े विशाल मेघ समूह गर्जन कर रहे थे, बिजलियाँ गिर रही थीं और मूसल के समान मोटी-मोटी जलधाराएँ बरस रही थीं। किन्तु **उस** वर्षा से आपका कुछ भी नहीं बिगड़ा, किन्तु उस अज्ञानी कमठ असुर ने अपने लिए तीक्ष्ण तलवार का **काम** कर लिया और वही अपने पापों के कीचड़ में डूब गया।।३२।।

ध्वस्तोर्ध्वकेश-विकृताकृति-मर्त्यमुण्ड-प्रालम्बभृद्-भयद-वक्त्रविनिर्यदग्निः।
प्रेतव्रजः प्रतिभवन्तमपीरितो यः, सोऽस्याऽभवत् प्रतिभवं भवदुःखहेतुः।।३३।।

हे जिनेन्द्र ! उस दुष्ट कमठ ने आपको ध्यानभ्रष्ट करने के लिये अत्यन्त निर्दय पिशाचों के दल भी भेजे। वे कैसे थे—जिनके गले में नर मुण्डों की मालाएँ पड़ी हुई थीं और जो अपने भयानक मुख से आग निकाल रहे थे। वे आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके, प्रत्युत वे उसी कमठ के लिये प्रत्येक भव में भयंकर दुःखों के कारण बन गये।।३३।।

धन्यास्त एव भुवनाधिप ! ये त्रिसन्ध्य-माराधयन्ति विधिवद् विधुतान्यकृत्याः।
भक्त्योल्लसत्-पुलक-पक्ष्मल-देहदेशाः, पाद-द्वयं तव विभो ! भुवि जन्मभाजः।।३४।।

हे प्रभो ! संसार के वे ही प्राणी धन्य हैं, जिनके शरीर का रोम-रोम आपकी भक्ति के कारण उल्लसित एवं पुलकित हो जाता है और दूसरे सब काम छोड़कर आपके चरण-कमलों की विधिपूर्वक त्रिकाल उपासना करते हैं।।३४।।

अस्मिन्नपार-भववारिनिधौ मुनीश ! मन्ये न मे श्रवण-गोचरतां गतोऽसि।
आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमंत्रे, किं वा विपद् विषधरी सविधं समेति।।३५।।

हे मुनीश ! इस अपार संसार-सागर में परिभ्रमण करते हुए अनन्तकाल हो गया। मैं मानता हूँ आपका नाम कभी भी श्रुतिगोचर नहीं हुआ। क्योंकि आपके नाम का पवित्र मंत्र सुनने में आया होता, तो फिर क्या वह विपत्तिरूपी काली नागिन मेरे पास आती ? अर्थात् कभी नहीं।।३५।।

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव ! मन्ये मया महितमीहित-दान-दक्षम्।
तेनेह जन्मनि मुनीश ! पराभवानां, जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम्।।३६।।

हे प्रभो ! समझ गया हूँ कि मैंने जन्म-जन्मान्तर में भी, मनोवांछित फल देने में समर्थ ऐसे आपके चरण-युगलों की उपासना नहीं की। यही कारण है कि मैं इस जन्म में हृदय को मथ देने वाले असह्य तिरस्कारों का केन्द्र बन गया हूँ।।३६।।

नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन, पूर्वं विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः, प्रोद्यत्प्रबन्ध-गतयः कथमन्यथैते।।३७।।

हे प्रभो ! मेरी आँखों पर मिथ्यात्व-मोह का गहरा अंधेरा छाया रहा, फलतः मैंने पहले कभी एक बार भी आपके दर्शन नहीं किये। यदि कभी आपके दर्शन किये होते तो अत्यन्त तीव्र गति से विस्तार पाने वाले ये मर्मभेदी अनर्थ मुझे क्यों पीड़ित करते ?।।३७।।

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि, नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं, यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।।३८।।

हे दीनबन्धु ! मैंने आपका पवित्र नाम भी सुना, उपासना भी की और दर्शन भी किये। केवल दिखावे के तौर पर, किन्तु भक्तिभावपूर्वक कभी भी आपको अपने हृदय में धारण नहीं किया। यही कारण है किं आज मैं अनेकानेक भयंकर दुःखों का पात्र बन रहा हूँ। क्योंकि भावनारहित क्रियाएँ सफल नहीं होतीं।।३८।।

त्वं नाथ ! दुःखिजनवत्सल ! हे शरण्य ! कारुण्यपुण्यवसते ! वशिनां वरेण्य !
भक्त्या नते मयि महेश ! दयां विधाय, दुःखांकुरोद्दलन-तत्परतां विधेहि।।३६।।

हे नाथ ! आप दुःखी जीवों के प्रति वत्सल हैं, शरणागतों के प्रतिपालक हैं, करुणा के निधान हैं और जितेन्द्रिय पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। हे महेश ! भक्ति से नम्रीभूत मुझ पर दया करके मेरे दुःखरूप अंकुरों का नाश करने में आप तत्पर होवें।।३६।।

नि:संख्यसारशरणं शरणं शरण्य-मासाद्य सादितरिपु-प्रथितावदातम्।
त्वत्पाद-पङ्कजमपि प्रणिधानवन्ध्यो, वध्योऽस्मि चेद् भुवनपावन ! हा हतोऽस्मि।।४०।।

हे प्रभो ! आपके चरण-कमल अतुल बल के स्थान हैं, दु:खित जनों की रक्षा करने वाले हैं, शरणागतों के प्रतिपालक हैं और कर्म शत्रुओं को नष्ट करने के कारण विश्वविख्यात यश वाले हैं। किन्तु मैं अभागा रहा। आपकी भावनापूर्वक सेवा न कर सका।।४०।।

देवेन्द्रवन्द्य ! विदिताखिलवस्तुसार ! संसार-तारक ! विभो ! भुवनाधिनाथ !
त्रायस्व देव ! करुणाहद ! माम् पुनीहि, सीदन्तमद्य भयद-व्यसनाम्बुराशेः।।४१।।

हे देवेन्द्र वन्दनीय ! सब पदार्थों के रहस्य को जानने वाले, संसार-सागर से पार उतारने वाले, तीन लोक के नाथ, हे दया के सागर ! आप मुझ दु:खी को जन्म-मरण से भरे भयंकर दु:खों के संसार से बचाओ।।४१।।

यद्यस्ति नाथ ! भवदंघ्रि-सरोरुहाणां, भक्तेः फलं किमपि सन्तत-सञ्चितायाः।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य ! भूयाः, स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि।।४२।।

हे नाथ ! मैं एक अतीव निम्न श्रेणी का भक्त हूँ। मेरी भक्ति ही क्या है ? फिर भी आपके चरण-कमलों की चिरकाल से संचित की हुई भक्ति का यदि कुछ भी फल हो, तो हे शरणागत वत्सल ! जन्म-जन्मान्तर में आप मेरे स्वामी बनें। मुझे केवल आपकी शरण ही अपेक्षित है और कुछ भी नहीं।।४२।।

इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र ! सान्द्रोल्लसत्पुलक-कंचुकिताङ्गभागाः।
त्वद् बिम्ब-निर्मलमुखाम्बुज बद्धलक्ष्या, ये संस्तवं तव विभो ! रचयन्ति भव्याः।।४३।।

हे जिनेन्द्र ! अटल श्रद्धा के द्वारा स्थिर बुद्धि वाले प्रेमाधिक्य के कारण भव्य प्राणी आपके निर्मल मुख-कमल की ओर अपलक निहारते हुए सघन रूप से उठे हुए रोमांचों से व्याप्त अंगों वाले होकर हे प्रभो ! आपकी इस प्रकार विधिपूर्वक स्तुति रचते हैं।।४३।।

जननयनकुमुदचन्द्र ! प्रभास्वराः स्वर्ग-सम्पदो भुक्त्वा।
ते विगलितमलनिचयाः, अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते।।४४।।

हे भक्त जनता के नेत्ररूपी कुमुदों को विकसित करने वाले विमल चन्द्र ! वे (पूर्व कथित भव्यजन) अत्यन्त रमणीय स्वर्ग सम्पदाओं को भोगकर अन्त में कर्ममल से रहित होकर शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं।।४४।।

इसके रचनाकार आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का मूल नाम भी कुमुदचन्द्र था।

कल्याण-मन्दिर की साधना

यह कल्याण-मन्दिर स्तोत्र आचार्य सिद्धसेन दिवाकर रचित चमत्कारी स्तोत्र है। भक्तामर स्तोत्र की भांति इसकी रचना भी अत्यन्त चमत्कारी श्रद्धा-भक्ति के उद्रेकमय क्षणों में हुई है। इसका पाठ संध्या काल में सूर्यास्त के समय या सोते समय करना चाहिए। वर्षभर के लिए निरन्तर जप करना हो, तो भगवान पार्श्वनाथ के जन्मदिन पोषवदी दशमी के दिन से प्रारम्भ करना चाहिए। उस दिन उपवास रखें, ब्रह्मचर्य से रहें। स्तोत्र का पाठ पूर्व और उत्तर दिशा की तरफ मुख करके करना चाहिए।

कल्याण-मन्दिर का पाँचवाँ काव्य लक्ष्मी और व्यापार के लिए; छठा सन्तान-प्राप्ति के लिए है। दसवें से सब प्रकार के भय, सतरहवें से गृह-कलह एवं पच्चीसवें से रोग-शोक दूर होते हैं। सताईसवें से शत्रु शान्त हो, विजय हो। इकतीसवें से शुभाशुभ प्रश्न का उत्तर मिले। सैतीसवें से राजा, प्रजा और परिवार में सम्मान हो, प्रतिष्ठा बढ़े। तैतालीसवें से बन्दीखाने से छूटे, सब प्रकार से लक्ष्मी का लाभ हो।

श्री सुशील कल्याण-मन्दिर स्तोत्र

पूज्याचार्य श्री सुशील सूरीश्वर विरचित

कल्याणमन्दिरमपारसुखस्य सारं, सद्यो विनाशकमहो दुरितस्य जालम्।
संतारक परमपूत-सुपाद-पद्मम्, पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य।।१।।

अनन्तसुख के सागर, अपार कल्याण के धाम, सकल-पाप-ताप-निवारक, संसाररूपी सागर से पार उतारने वाले, करुणासागर भगवान जिनेश्वर, प्रभु पार्श्वनाथ के चरण-कमलों में प्रणाम करके भक्तजन, निश्चित रूप में भव सागर पार कर लेते हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रभु पार्श्व जिनेश्वर के चरणयुगल कष्टतरंगों से आकुल-व्याकुल संसार से पार उतरने के लिए जहाज के समान है। अतएव मुमुक्षु स्वप्न में भी प्रभु के चरण-कमलों का विस्मरण न करें।

यस्य प्रभावमतुलं चरितं पुनीतं, गातुं सुधीश्वरवरेण्य-गुरुर्न शक्तः।
तीर्थङ्करस्य विभुपार्श्वजिनेश्वरस्य, तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये।।२।। (युग्मम्)

जिनका पवित्र-चरित्र, दुःखराशि का कर्तन करने में समर्थ में समर्थ है तथा जिनका अतुलनीय प्राभाविक स्वरूप का वर्णन करने की सामर्थ्य देवताओं के गुरु, वृहस्पति में भी नहीं है। उन अनुपम प्रभाव के धनी जिनेश्वरदेव के उत्कृष्ट चरित्र एवं स्वभाव का वर्णन करने के सन्दर्भ में मेरे जैसे छद्मस्थ अल्पज्ञ की कथा तो वृथा ही मानी जायेगी तब भी प्रभु के गुणग्राम की भक्ति से भावित होकर अत्यन्त श्रद्धा एवं भक्ति से यथामति प्रभु पार्श्वनाथ की स्तुति करूँगा।

शुद्धं नितान्त शशिकान्त-स्वरूपमेवं, वक्तुं विभुर्न मम सदृश-शक्तिहीनः।
दुस्साहसी शिशु रहो ननु कौशिकस्य, रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः।।३।।

परम विशुद्ध चन्द्रमा से भी अधिक आकर्षक, अनन्तज्ञान-विज्ञान के सूर्य, प्रभु श्री पार्श्वनाथ का नितान्त निर्मल स्वरूप का वर्णन करने में मेरे जैसा काव्यकला कौशल में अप्रवीण, कवित्वशक्तिहीन कभी भी समर्थ नहीं हो सकता है।

क्या भला दिवान्ध उल्लू का शिशु प्रतापी सूर्यदेव का लेशमात्र भी स्वरूप बताने में कभी सशक्त हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं।

बोधोदयादपि जिनेश ! गुणाँस्त्वदीयान् सम्यक्तया सुगणने सफलो न मर्त्यः।
रिक्ते जले प्रलयकाल-समुद्रमध्ये, मीयेत केन जलधेर्ननु रत्न-राशिः।।४।।

मोहनीय कर्म के समूल नष्ट होने पर समुत्पन्न ज्ञानोदय की स्थिति में परमाराध्य जिनेश्वरदेव के गुणों की गणना करने में कोई केवली या सुविज्ञ मानव क्या समर्थ हो सकता है ?

विकराल प्रलयकाल में समुद्र का जल जब खाली हो जाता है तब उसकी रत्नराशि स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है किन्तु ऐसी स्थिति में कोई रत्नाकर के रत्नों की गिनती करने में समर्थ हो पाता है ? कदापि नहीं।

देवाधिदेव ! सहसा तव संस्तवं भोः, कर्तुं प्रवृत्त इति मे जडबुद्धिरेव।
किं नार्भको लघुसुहस्तयुगं प्रसार्य, विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः।।५।।

हे परमाराध्य जिनेश्वर ! मैं विवेक-बुद्धि की सामर्थ्य से रहित हूँ फिर भी आपके उज्ज्वल गुणों के संकीर्तन के लिए नूतन स्तोत्र बनाने की अभिलाषा से अचानक बिना विचारे ही प्रवृत्त हो रहा हूँ। मैं यह तो भलीभाँति

जानता हूँ कि यह जड़बुद्धि का ही परिचायक है तो भी सोचता हूँ कि क्या अल्पज्ञ बालक भी असीम विशाल महासागर के विस्तार को प्रकट के लिए अपने दोनों छोटे-छोटे हाथ फैलाकर नहीं बताता है ?

इसी प्रकार मैं भी अल्पबुद्धि से आपकी स्तुति करूँगा।

सद्योगिनोऽपि नहि यान्ति गुणेश ! पारं, शक्तिस्तु मेऽस्ति कियती जगति प्रसिद्धां।
मन्ये विचाररहिताऽस्ति मम प्रवृत्तिः, जल्पन्ति वा निज गिरा ननु पक्षिणोऽपि।।६।।

हे ज़िनेश ! आध्यात्मिक ज्ञान एवं ध्यान विज्ञान में निपुण सद्योगी मुनिजन भी आप जैसे परमसुख गुणेश के गुणों को वस्तुतः वर्णित करने में असमर्थ हैं तो भला मेरी क्या सामर्थ्य है ? इसके सन्दर्भ में तो सभी जानते हैं।

मैं मानता हूँ कि इस महनीय स्तोत्र रचना में बिना विचारे मेरी प्रवृत्ति हास्यास्पद है क्योंकि आपके गुणों का व्याख्यान करने का मैं अधिकारी मनीषी नहीं हूँ तथापि मुझे यह विदित है कि मनुष्यों की तरह वाक्‌कौशल पक्षियों में नहीं है फिर भी वे अपनी अव्यक्त वाणी में बोलते हैं तथा उनका कार्य निर्वाह भी सम्यक् प्रकार से होता है।

जानामि तेऽस्ति महिमा गरिमाम्बुराशिः नाम्नो महत्त्वमपि दुःखदलापहारि।
ग्रीष्माकुलान् सुविकलान् पथिकान् निदाघे, प्रीणाति पद्मसररसःसरसोऽनिलोऽपि।।७।।

हे देवाधिदेव ! जिनेन्द्र ! आपकी महिमा का कोई पार नहीं है। आपकी गरिमा भी सागर के समान अनन्त, अपार, अगाध एवम् असीम है। आपके नाम–संकीर्तन में भी ऐसी उत्कृष्ट शक्ति है कि दुःखों का समूह, क्षणमात्र में विनष्ट हो जाता है।

हे त्रिभुवनदुःखापहारी ! गर्मी के विकट संताप से आकुल-व्याकुल लोगों को पद्मसरोवर तो सुखी बनाता ही है, साथ ही साथ पद्मसरोवर के शीतल जलकण से ठंडी तथा कमलों की पराग से सुरभित हवा भी उन्हें सुख प्रदान करती है।

ध्यानस्थ भक्तहृदये त्वयि वर्तमाने, सद्यो भवन्ति शिथिलाः सकला कुबन्धाः।
सर्पन्ति सर्पसदृशा निलयं समन्तात्, अभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य।।८।।

हे वीतराग प्रभो ! आप सदैव ध्यानस्थ भक्तजनों के हृदयकमल में विराजते हैं। अतएव उन भक्तों के समस्त कर्मबन्धन सहसा शिथिल हो जाते हैं। अर्थात् कर्मबन्ध मिट जाते हैं।

जब चन्दन वृक्षों के पास मयूरों का आगमन होता है तब चन्दन के वृक्षों पर लिफ्टे हुए सर्प, तुरन्त अपने बिलरूपी निलय में विलय हो जाते हैं।

इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जो भक्त अपने हृदय कमल पर आपको आसीन करते हैं उनके समस्त कर्मबन्धनों की कड़ियाँ सहसा शिथिल हो जाती हैं, टूट जाती हैं।

आराध्यदेव ! तव दर्शनतो जनौघाः, मुच्यन्त एव सकलाद् भयकारिकष्टात्।
गोस्वामि-दृष्टिपतनात् सहसा द्रुवन्ति, चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः।।६।।

हे परमाराध्य जिनेश्वर ! आपके परम पावन दर्शनलाभ से सांसारिक मनुष्य नाना प्रकार के भयावह कष्टों के जाल से अकस्मात् मुक्त हो जाते हैं। सांसारिक कष्टजाल, नितान्त भयंकर हैं। इससे बचना, विमुक्त होना सहज नहीं है किन्तु आपका पावन दर्शन लाभ अतिशय चमत्कारी एवं परमोपकारी है, जिसके कारण मनुष्य बिना किसी परेशानी के ही सहजतया भयंकर कष्टजाल से मुक्त हो जाता है।

परम प्रतापी राजा, सूर्य या गोस्वामी (गोपाल) के दृष्टिगोचर होते ही जिस प्रकार चोर धन, पशुजन आदि सबकुछ छोड़कर भाग जाता है उसी प्रकार आप जैसे परम प्रतापी के दर्शनलाभ से सकल भयंकर भवदुःखदल भाग जाते हैं।

संतारकोऽसि जिनराज ! कथं जनानाम्, भक्ता वहन्ति हृदयेन च तारयन्ति।
हुं ज्ञातमद्य ननु संसरते दृतिर्यत्, अन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः।।१०।।

हे जिनराज ! आप किस कारण से जनतारक कहलाते हैं। भक्तजन, स्वयं आपको अपने निर्मल हृदय-कमल पर बैठाते हैं तथा हृदय से आपका वहन करते हुए स्वयं तिरते हैं तथा आपको भी तारते हैं। इस प्रकार विकल्प मेरे मन में था किन्तु वह भी अब दूर हो गया है।

आज मैंने विधिवत् जान लिया है कि जल पर खाली मशक नहीं तैरती हैं किन्तु हवा से भरी मशक तैर जाती है। इससे यह ज्ञात होता है कि भक्तजनों के हृदय-कमल निवासी आप ही संतरण के आधार हैं। वस्तुतः आप जनतारक हैं।

देवा यदीयविषये विगत प्रभावाः, कामस्त्वया तु विजितः सहसा क्षणेन।
निर्वापितो जगति तज्ज्वलनं च येन, पीतं न किं तदपि दुर्धर वाडवेन।।११।।

जिस कामदेव को महाप्रभावशाली देवता भी पराजित नहीं कर पाए। सभी देवता जिस कामदेव के समक्ष निष्प्रभावी सिद्ध हुए। अतएव सभी कामदेव के वशीभूत हो गए। कोई भी देवता कामदेव को नहीं जीत सका।

हे जिनेश्वर ! आश्चर्य है कि आपने तो बिना किसी विशेष पराक्रम को प्रदर्शित करते हुए उस कामदेव को क्षणमात्र में पराजित कर दिया है। जो जल, अग्निकाण्ड को शान्त करने में सफल होता है क्या उसे वडवानल, अपना ग्रास नहीं बना लेता है।

देवाधिदेव ! गरिमामय ! त्वां दधानाः, सत्प्राणिनः सुहृदये सुतरां प्रकामम्।
नित्यं तरन्ति भवसिन्धुमपार पारम्, चिन्त्यो न हन्त ! महतां यदि वा प्रभावः।।१२।।

देवाधिदेव ! इस संसार के सभी सज्जन आपकी कल्याणकारिणी मूर्ति को अपने हृदय-कमलों पर विराजित करके आपका ही नाम कीर्तन करते हुए हमेशा अपार संसार-सागर से पार हो जाते हैं।

महापुरुषों के स्वभाव का प्रभाव ही अनुपम, अनिर्वचनीय तथा अचिन्त्य है। उन लोकोत्तर चमत्कारी तत्त्वदर्शी महापुरुषों के महाप्रभाव से असम्भव कार्य भी सहसा सम्भव हो जाते हैं।

क्रोधो यदा च भवता प्रथमं जितोऽयम् नष्टास्तदैव सकलाः किल कर्मचौराः।
शीताऽपि शोषयति चेदिह लोकमध्ये, नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी।।१३।

हे जिनेश ! क्रोध, दुर्जेय शत्रु हैं—यह बात लोक विदित है। आपने सर्वप्रथम उसी दुर्जेय शत्रु पर विजय प्राप्त की। जब आपने क्रोध को जीत लिया, विनष्ट कर दिया तब शेष कर्मचोर कैसे भागे ? बिना रोष या क्रोध के तो चोरों का भागना सम्भव-सा नहीं लगता। मेरे मन की इस आशंका का निवारण तब हुआ जब मुझे ज्ञात हुआ कि हिम की अधिकता भी सघन हरित वनावली को जला देती।

फलतः क्रोध के अभाव में क्षमा/शान्ति की आपके अन्तःकरण में प्रतिष्ठा हुई उसी के प्रभाव से समस्त कर्म चोर भाग गए। वस्तुतः क्षमा, क्रोध से अधिक शक्तिशाली है।

नित्यं गवेषणपरा हृदये स्वकीये, योगीश्वराश्च मुनयः सुनयप्रधानाः।
शुद्धस्य पावनरुचेर्यदिवा किमन्यद्, अक्षस्य संभवि पदं ननु कर्णिकायाः।।१४।।

हे जिनेन्द्र ! संसार रूपी सागर से विरक्त योगसाधना में निरन्तर संशक्त, सुनयपथ के अनुगामी मुनिजन, सवर्था कर्म-विशुद्ध आपके स्वरूप की अन्वेषणा अपने हृदय-कमल में करते हैं। जैसे कमल-कर्णिका कमल में ही प्राप्त होती है वैसे अपने हृदय-कमल (अन्तरात्मा) में आपकी खोज करते हैं।

ध्यात्वाप्नुवन्ति सहसा भविनो भवन्तम्, व्यक्त्वा तनुं विमलबोधनिधानशीलाः।
पाषाण दोषमपहाय सुपावकेऽस्मिन्, चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः।।१५।।

हे देवेश ! इस संसार के भव्य प्राणी उत्कृष्ट श्रद्धा, भक्ति से सम्पन्न होकर विशुद्ध-ज्ञान-विज्ञान के धनी बनकर विशुद्ध हृदय से आपके परम पावन, आपके स्वरूप का ध्यान करके अपने शरीर को भी यथाशीघ्र त्यागकर निर्मल परमात्मस्वरूप को सहज रूप में प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार तीव्र अग्नि के संयोग से पाषाणरूप को त्यागकर मैला सुवर्ण भी कुन्दन बन जाता है।

नित्यं सुभक्त हृदयेषु विलोक्यसे त्वं, देहं विनाशनपरास्तदपीह भक्ताः।
हुं ज्ञातमद्य ननु मध्यगता वरेण्याः, यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः।।१६।।

हे जिनेश ! इस संसार में जितने भी सम्यक्त्वी सुभक्तजन हैं, उनके हृदय-कमल में सदैव आप विराजते हैं तो उनका शरीर क्यों नष्ट होता है ?

हाँ, आज मैंने विधिवत् जान लिया है कि महापुरुष जिस किसी जागतिक विवाद या कलह में मध्यस्थ बनते हैं उस कलह का समूल विनाश कर देते हैं। आप भी भक्तों के हृदय में रहने के कारण उन्हें जन्म मरण के चक्र से विमुक्त कर देते हैं।

अध्यात्मचिन्तनपरा विबुधा वरेण्याः, ध्यायन्ति शुद्धहृदये परमात्म बुद्ध्या।
पीयूषतां सुलभते सलिलं सलीलं, किं नाम नो विषविकारमपाकरोति।।१७।।

हे जिनेश्वर ! अध्यात्म चिन्तन में सतत परायण, ज्ञानीजन, अपने विशुद्ध हृदय में आपका ही ध्यान करते हैं। इस प्रकार की ध्यानयोगाभ्यास की परम्परा से गुजरते हुए वे अपनी आत्मा को परमात्मा बना लेते हैं। आगम वचन है—**अप्पा सो परमप्पा।**

जिस प्रकार अभेद बुद्धि से पान किया गया जल विष विकार से रहित होकर अमृत के समान हो जाता है।

त्वामचर्यन्ति जिनराज ! शिवादि-मत्वा, लोके सदैव परवादरता जनौघाः।
किं पीतरोगिभिरहो सितकम्बुवर्णः, नो गृह्यते विविध-वर्णविपर्ययेण।।१८।।

हे जिनराज ! सम्पूर्ण संसार में आप ही परम पूज्य देव हैं। मैं मानता हूँ कि परमतावलम्बी भी शिव आदि विभिन्न नाम देकर पूजते हैं, मानते हैं तथा ध्यान करते हैं।

जैसे कोई पीलिया नामक रोग से ग्रसित रोगी सफेद शंख को भी पीला बताता है। उसी प्रकार अन्यमतावलम्बी आपको नाना रूप में मानते हैं।

सत्योपदेश समये तव संश्रयेण, निःशोक मुग्धजनता तरवोऽप्यशोकाः।
आविर्गते दिनमणौ गगने विशाले, किं वा बिबोधमुपयाति न जीवलोकः।।१९।।

हे जिनेश ! जब आप अपने समवशरण में विराजित होकर सत्य का धर्मोपदेश जगत् के कल्याण के लिए प्रस्तुत करते हैं तो वहाँ के वृक्ष भी अशोक हो जाते हैं तथा भव्यजनता भी निःशोक हो जाती है क्योंकि सूर्योदय के होने पर न केवल मनुष्य जागृत हो जाते हैं। सर्वत्र नव चेतना का संचार होता है। सरोवरों में कमल स्वयं खिल जाते हैं।

आश्चर्यमेतदखिलं सुरपुष्पवृष्टिः, संजायते तव सभासदने सदैव।
वृन्तान्यवाङ्मुखतया च तवानुभावात्, गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि।।२०।।

हे देवाधिदेव ! आपके समवशरण (सभामण्डप) में प्रमुदित भाव से देवगण पारिजात सुमनों की वर्षा करते हैं। उस सुरपुष्पवृष्टि को देखकर यह आश्चर्य होता है कि सारे डंठल नीचे की ओर ही क्यों होते हैं ?

अब, मुझे इसका विधिवत् ज्ञान हुआ है कि सुमन आपकी चरण-शरण में आते हैं। उनके बन्धन नीचे की ओर शिथिल हो जाते हैं। वे कभी ऊपर की ओर नहीं होते। वस्तुतः आपकी चरण-शरण को प्राप्त करने वाला सदैव बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

पीयूषवर्षि ललितं वचनं त्वदीयम्, सत्यं सुधा-सम-सुमानसतोऽभिजातम्।
आस्वाद्य तत् तव पदाब्जरता सुधीशाः, भव्या ब्रजन्ति तरसाऽप्यजरामरत्वम्।।२१।।

हे जिनेन्द्र ! आपके धीर-गम्भीर ह्रदय रूपी सागर से प्रकट होने वाली अमृतवाणी, सर्वत्र अमृतवर्षा करती है। आपके चरणोपासक भव्य भक्तजन तथा ज्ञानीजन उस अमृतवाणी का रसास्वादन करके परम मोक्षपद को प्राप्त करते हैं।

अर्थात् आपकी अमृतवाणी में वह अनुपम शक्ति है, जिसको सुनकर भव्यप्राणी विषय विकारों से दूर होकर सहसा मुक्तिपद प्राप्त कर लेते हैं।

को विस्मयोऽत्र जनपालक ! हे महेश ! त्वन्नाम कीर्तनरता यदि संतरन्ति।
भक्ता अशेष कलुषादुपयान्ति पारम्, भव्या व्रजन्ति तरसाऽप्यजरामरत्वम्।।२२।।

हे जनपालक ! आपके पावन नाम का जप-संकीर्तन करने में तल्लीन भक्तजन, इस अपार संसार-सागर के पार चले जाते हैं, मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

वस्तुतः आपके भक्तजन, राग-द्वेष आदि दोषों से रहित होकर स्वतः आपके पावन-मार्ग का अनुगमन करते हुए अजर-अमर पद प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

देवाः जिनेश ! तव भक्ति विनम्रचित्ताः, शुभ्रं सुचामरमहो व्यजयन्ति नित्यम्।
मन्येऽर्हते नतिपरा दृढ़सेवका ये, ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः।।२३।।

हे जिनेश ! विनम्रभाव से आपकी भक्ति करते हुए देवगण आपकी सेवा में सदैव चँवर डुलाते हैं। मैं तो यह मानता हूँ कि जो भक्त अरिहन्तदेव की सदैव वन्दना करते हैं वे निश्चित रूप से भावनात्मक रूप में विशुद्ध होकर ऊर्ध्वगति प्राप्त करते हैं। अर्थात् अर्हद्‌भक्त कदापि अधोगति का संवरण नहीं करते हैं।

रत्नप्रभानिकर पीठगतं भवन्तं, श्यामं विलोक्य सहसा मुदिता मयूराः।
आकारयन्ति मधुरैर्वचनैरुदारैः, चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम्।।२४।।

हे जिनेश ! रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठकर जब अपने समवशरण में लोककल्याणकारिणी धर्मदेशना/धर्मोपदेश करते हैं तब आपके सुमनोहर श्यामवर्ण को सुवर्णपर्वत-सुमेरु पर आच्छादित नव मेघमाला समझकर प्रसन्नता से झूमते हुए मयूर मधुर ध्वनि में कूजते हैं।

संभ्राजता खलु सुनीलविभाकरेण, लुप्तप्रभावखचिता इव देववृक्षाः।
सम्पर्कतस्तव सदा जिनराजराज ! नीरोगतां ब्रजति को न सचेतनोऽपि।।२५।।

हे जिनेश ! आपके शरीर की मनोरम नीलवर्णकान्ति के प्रभाव से अशोक वृक्ष के रक्ताभ पत्रों की छवि भी सहसा तिरोहित हो जाती है, अशोक वृक्ष भी चित्रखचित से प्रतीत होते हैं।

आपके वचनामृतपान या ध्यान करने से ही नहीं अपितु सान्निध्यमात्र से ही सचेन प्राणी, सांसारिक कष्टजालों से मुक्त होकर वीतराग स्थिति को सहज रूप में प्राप्त कर लेते हैं।

आलस्य दोषमपहाय भजन्तु सर्वे, ये यात्रिणः शिवपुरं गमनार्थचित्ताः।
एवं विबोधयति नाथ ! जगत्त्रयेऽत्र,मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते।।२६।।

हे प्रभु पार्श्वनाथ ! मैं ऐसा मानता हूँ कि आकाशमण्डल में बजती हुई देव दुन्दुभि मानो तीनों लोकों के समस्त प्राणियों को उद्‌बोधित करती हुई कह रही है कि जो भव्यजन शिवपुर मोक्ष जाने की उत्कष्ट अभिलाषा रखते हैं वे सभी आलस्य का पूर्णतः परित्याग करके तैयार हो जाएँ।

ज्ञानप्रभानिकर ! तेऽत्र महाप्रकाशं,ज्ञात्वा शशिः सुमणितुल्य सुतारकैश्च।
मुक्ताभ-कान्ति-कलितोल्लसितातपत्र—व्याजात् त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः।।२७।।

हे ज्ञान प्रभाकर ! आपके मस्तक पर विराजित क्षत्रत्रय में तीन लडों वाली मोतियों की झालर मानों तारों के साथ उपस्थित चन्द्रमा के समान सुशोभित होती है। हे जिनेश्वर ! आपके ज्ञान के दिव्य प्रकाश से लोकत्रय के प्रकाशित होने पर वहाँ चन्द्रमा की क्या गणना ? अत एव चन्द्रमा भी मानो आपकी सेवा में उपस्थित हो गया है।

धाम्ना निरस्तकुहरो यशसां चयेन, लोकत्रयेऽपि तव कान्तिरहो विशुद्धा।
माणिक्य-रजत-सुवर्ण-सुनिर्मितेन, सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि।।२८।।

हे आराध्यदेव ! आप स्वकीय परम प्रताप से एवं कमनीय कीर्ति मण्डल से सम्पूर्ण अज्ञानरूपी अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने वाले हैं। आपकी निर्मल कान्ति तीनों लोकों में सर्वत्र सुशोभित हो रही है।

जब आप समवसरण में विराजते हैं तो सोने, चाँदी तथा माणिक्य रत्नों से सुनिर्मित तीन कोट दृष्टिगोचर होते हैं।

स्वर्गाधिपोऽपि चरणाम्बुजसेवकस्ते, नित्यं शिरोमणिगणा निपतन्ति पादौ।
शान्तिस्त्वदीयचरणे शरणे सदैव, त्वत्संगमे सुमनसो न रमन्त एव।।२९।।

हे देवेश ! आपकी चरणसेवा में देवराज इन्द्र भी विनीत भाव से सदैव उपस्थित होते हैं। जब वह वन्दन के लिए आपके चरणकमलों में झुकते हैं तब उनके मुकुट की मणियाँ भी आपके चरणारविन्द पर बिखर जाती हैं। मानों वे भी समझती हों कि शान्ति, स्वर्ग में नहीं अपितु प्रभु पार्श्वनाथ चरणकमलों के सानिध्य में ही है। वस्तुतः अखण्ड, अनन्त शान्ति आपकी चरण—शरण में ही प्राप्त होती है।

संसारसागरविमुक्त ! जिनेश ! नाथ ! संतारकः सविधिवन्दन कारकाणाम्।
युक्तं त्वदीयचरणं शरणं जनानाम्, चित्रं विभो ! यदसि कर्मविपाक शून्यः।।३०।।

हे प्रभो ! आप संसार—सागर से विमुक्त हैं तथापि विधिपूर्वक वन्दन करने वाले भक्तजनों के आप तारक हैं।

आपके चरणकमलों में भक्तिभाव रखने वाले लोग आपकी चरणसेवा को ही उपयुक्त शरण मानते हैं। आप भक्तजनों के संतारक होते हुए भी स्वयं कर्मविपाक से सर्वथा रहित मुक्तस्वरूप हैं—यह अपने आप में महान् आश्चर्यकारी है।

त्वं विश्वनाथ ! जनपालक ! पार्श्वनाथ ! देवाधिदेव ! करुणाकर ! सन्मुनीश !
कर्मप्रभावरहितो महितः सुधीशैः, ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकास हेतुः।।३१।।

हे पार्श्वनाथ प्रभो ! आप सकल विश्व का पालन करने के कारण जनपालक विश्वनाथ हैं। देवराज इन्द्र आदि भी आपके चरण-सेवक हैं। अत एव देवाधिदेव हैं। आप करुणाकर तथा उत्कृष्ट मुनिजनों के आराध्यदेव भी हैं।

आप कर्मप्रभाव से शून्य हैं अतः सुधीजन भी आपकी पूजा करते हैं। सकल संसार का कल्याण करने में समर्थ सम्यग्ज्ञान आपमें स्फुरित होता है।

दुष्टेन तेन कमठेन रजांसि रोषाद्, क्षिप्तानि तानि गगनाञ्जलविस्तृतानि।
छायाऽपि नैव तव देव ! हता निराशो, ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा।।३२।।

हे जिनेन्द्र ! उस दुरात्मा कमठ ने क्रोधित होकर आप पर भीषण धूल फैंकी किन्तु वह धूल आपके शरीर तो क्या शरीर की छाया का भी स्पर्श नहीं कर पाई। वह धूल सारे गगनमण्डल में छा गई। उस धूलिक्षेप रूपी दुष्कर्म के कारण उस कमठ की आत्मा स्वयं कर्मकषायों के बन्धन से आबद्ध हो गई।

तेनैव दुष्ट कमठेन जलौघवृष्टिः, संस्कारिता घनघटाशनिपात घोरा।
संप्लाविता च भुवि दुस्तरवारिधारा, तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारिकृत्यम्।।३३।।

हे भगवन् ! उस दुरात्मा कमठ ने फिर दूसरी बार ऐसी घनघोर वर्षा करवाई कि जिसमें भयंकर आवाज करती हुई बिजलियाँ कड़कीं, मूसलाधार पानी बरसा। सर्वत्र जल ही जल व्याप्त होने लगा। वह भयंकर वारिप्रवाह नितान्त दुस्तर था किन्तु वह भी आप जैसे समताधारी का कुछ भी बिगाड़ने में समर्थ न हो सका। बस, उस दुष्कृत्य से उसी दुरात्मा कमठ का कर्म भार और अधिक बढ़ गया।

दग्धोर्ध्वकेश-विकृताकृति-मुण्डमाल-विभ्रद् भयानक-कृतान्तसमोऽग्निजालम्।
यः प्रैषयत् तव कृते किल भूतवर्ग, सोऽस्याऽभवत् प्रतिभवं भवदुःख हेतुः।।३४।।

हे जिनेन्द्र ! फिर उसी दुरात्मा कमठ ने आपकी सत्साधना भंग करने के लिए भयंकर आकृति वाले, नरमुण्डमालधारी निर्दयी पिशाच भेजे किन्तु वे प्रलयकाल के समान अग्नि बरसाने वाले भयंकर पिशाच भी आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाए। इस कुत्सित कृत्य के सम्पादन से उसी कमठ के भवदुःखजाल में बढ़ोतरी हुई।

मान्यास्त एव जगदीश्वर ! ये त्रिकालं,पूजाविधान निरता विरता भवाद्वै।
श्रद्धान्वितास्तु विमलाः सदुपासकांश्च,पादद्वयं तव विभो ! भुवि जन्मभाजः।।३५।।

हे जिनेन्द्र प्रभो ! संसार-सागर से विरक्त आपकी चरणोपासना में तीनों काल में तत्पर भक्तजन माननीय है।

श्रद्धापूर्वक त्रिकरण से आपके चरणकमलों की निरन्तर उपासना करने वाले जीव ही वस्तुतः पृथ्वी पर धन्यवाद के सत्पात्र हैं।

आराध्यदेव ! भुवनाधिप ! विश्वनाथ ! योगीश्वर ! प्रथितनाम ! महेश ! लोके।
आराधयन्ति सततं तव भक्तिनम्राः, पादद्वयं तव विभो भुवि जन्मभाजः।।३६।।

हे जिनेन्द्र ! आप आराध्यदेव, त्रिभुवन स्वामी, विश्वनाथ हैं। आपका नाम विश्वविदित है। अतएव संसार में जन्म धारण करने वाले भव्यजन, आपके चरणकमलों की उपासना में लवलीन रहते हैं। वे हर स्थिति तथा परिस्थिति में सम्पूर्ण भक्तिभाव से भावित होकर आपकी आराधना, पूजा करते हैं।

दुःखाकुलेऽतिविकले भ्रमता महेश ! नैवात्र नाम भवतः श्रवणेन पीतम्।
नाम्नि श्रुते परमपावनलोकसिद्धे, किं वा विपद् विषधरी सविधं समेति।।३७।।

हे देवेश ! इस अपार दुःखजाल से विकराल संसार में अनन्तकाल से जन्म-मरण के चक्कर काटते हुए मैंने आपका पावन नाम न सुना, न जपा। यदि ऐसा मैंने किया होता तो विपत्तिरूपी विषयविकार की नागिन मेरी पास भी नहीं फटकती।

ध्यातं न वा तव पदाब्जयुगं कदापि,जन्मान्तरेऽपि मयकाल्पधिया कथञ्चिद्।
तस्मादमुत्र सततं जगतामुपेक्ष्य जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम्।।३८।।

हे जिनेश ! आपके चरणारविन्द सदैव अभीष्ट फलप्रदायक है—ऐसा मैं पूर्णतः जान चुका हूँ। हे प्रभो ! पूर्वभव में भी मैंने आपके पावन चरणकमलों का ध्यान नहीं किया था। अतएव इस भव में मैं लोगों के बीच उपेक्षित, तिरस्कृत हो रहा हूँ। आपका सेवक कदापि तिस्कृत नहीं होता। उसका सदा, सर्वत्र आदर-सम्मान होता है।

मिथ्यान्धकार भरितेन विलोचनेन, नूनं मया न च सुदर्शनमेव दृष्टम्।
दृष्टे जिनेश्वरवरे न भवन्त्यनर्थाः, प्रोद्यत् प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते।।३६।।

हे जिनेश्वर ! मेरी आँखों पर मिथ्या-मोह का गहरा अन्धकार छाया हुआ होने के कारण मैंने कदापि आपके दर्शन का लाभ प्राप्त नहीं किया। यदि मैं आपके दर्शन पहले कर लेता तो अनर्थ की इस परम्परा के कुचक्र से नहीं घिरता। भक्त और अनर्थ के बीच कभी पारस्परिक संयोग दिखाई नहीं पड़ता है।

आलोकितः प्रणयतः परिपूजितोऽपि, नूनं न सत्यवचसा मनसाऽपि दृष्ट्या।
सम्मानितोऽसि जनवल्लभ ! साधु भक्त्या, यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।।४०।।

हे जगवल्लभ जिनेन्द्र ! मैंने आपका दर्शन, पूजन बाह्यदृष्टि से तो किया है किन्तु हार्दिक विशुद्ध भावना से नहीं। इसीलिए मैं दुःख दल-दल में फँसा हूँ। जब तक भावनात्मक शुद्धि के साथ क्रिया का सम्पादन नहीं किया जाता तब तक क्रियाएँ प्रतिफलित नहीं होती हैं। अर्थात् विशुद्ध भाव क्रियाएँ ही फलदायिनी होती है, भावशून्य क्रियाएँ नहीं।

सम्यग् मया न रचिता तव देव ! पूजा, मन्त्रोऽपि नैव जपितःखलु शुद्धभावैः।
जातोऽस्मि तेन जगदीश्वर ! कष्टपात्रं, यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।।४१।।

हे जिनेश्वर देव ! मैंने, आपकी विधिपूर्वक पूजा, अर्चना नहीं की है। अन्तःकरण की भावनात्मक शुद्धि के साथ कभी परमचमत्कारी आपके नाम रूपी मन्त्र का जप भी नहीं किया है। अतएव मैं, वर्तमान समय में दुःखभागी हूँ। यदि मैंने आपकी पूजा, ध्यान, नाम, संकीर्तन आदि भावशुद्धिपूर्वक विधिवत् किया होता तो ये दुःख प्राप्त नहीं होते। सत्य कथन है कि भावरहित क्रियाएँ फलवर्ती नहीं होती हैं।

हे नाथ ! लोकहित चिन्तक ! हे वरेण्य ! कारुण्यसागर ! गुणाकर ! हे शरण्य !
शीघ्रं विधाय च कृपां परमां कृपालो, दुःखांकुरोद्दलन-तत्परतां विधेहि।।४२।।

हे स्वामिन् ! आप समस्त लोकों के हितैषी, श्रेष्ठतम, करुणासागर, गुणरत्नाकर हैं। आप सभी को पावन शरण प्रदान करने वाले हैं। हे दयालु ! मुझ पर यथा शीघ्र कृपाभाव प्रदर्शित करते हुए मुझे दुःख जालों से विमुक्त कीजिए। जिन दुःखों, कर्म-कषायों के कारण बारम्बार मैं जन्म-मरण के चक्कर में फँसकर कष्ट पा रहा हूँ उनका जड़मूल से विनाश करने के लिए तत्परता दिखाइए।

चित्रं न चात्र सुरवन्दित पादपद्म ! यत् प्राप्नुवन्ति परमं सुखमीश भक्ताः।
तस्मान्नमामि तव पादयुगं दयस्व, दुःखांकुरोद्दलन-तत्परतां विधेहि।।४३।।

हे जिनेश ! आपके चरणारविन्दों में देवतागण भी विनम्र भाव से वन्दन करते हैं। आपकी चरण-सेवा से यदि भक्तजन, परमपद मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

इस सम्पूर्ण रहस्य को विधिवत् जानकर मैं आपके चरण-कमलों में सादर प्रणाम करता हूँ। हे जिनेन्द्र ! दया करके मुझे दुःखद-कर्मों की कीचड़ से बचा लीजिए। मैं बारम्बार निवेदन करता हूँ कि दुःखदकर्मों के समूल उन्मूलन में मेरी सहायता कीजिए।

भक्त्या प्रणम्य तव पादयुगं जिनेश ! सर्वे भवन्ति सुखिनोमनुजा धरायाम्।
त्वत् ध्यानतो, विरहितो जगतामुपेक्ष्यो, वध्योऽस्मि चेद् भुवनपावन ! हा हतोऽस्मि।।४४।।

हे जिनेश ! आपके चरणकमलों में सर्वदा वन्दन करके पृथ्वी के सभी मनुष्य सुखी हो जाते हैं। यदि मैं इन मंगलमय पावन चरण कमलों का अवलम्बन प्राप्त करने के पश्चात् भी आपकी ध्यान-साधना से वंचित रहा तो निश्चित रूप से इस संसार का सबसे अधिक दीन-हीन एव अभागा माना जाऊँगा।

हे वीतराग ! जिनराज ! दयानिधान, सत्यस्वरूप ! गुणगौरव ! हे महेश।
भक्त्या नतं जनमिमं परिपाहि विद्वन्, सीदन्तमद्य भयद-व्यसनाम्बुराशेः।।४५।।

हे वीतराग ! आप गुणसागर करुणावरुणालय सत्य स्वरूप महेश हैं। आपकी महिमा अनन्त, अपार है। भयंकर सांसारिक व्यसनों में (आफत में) विविध प्रकार से दुःख की अनुभूति करने वाला यह व्यक्ति आपके चरणारविन्दों में सादर वन्दन करता है।

कृपया आप मुझे इस दुःखसागर से पार उतारिये।

विश्वेश्वरोऽसि जनवल्लभ ! देवदेव, संसारतारक ! विभो ! करुणावतार !
नित्यं प्रपाहि दयया निखिलारिभीतेः, सीदन्तमद्य भयद-व्यसनाम्बुराशेः।।४६।।

हे जिनेश्वर ! आप लोक वल्लभ, लोकनाथ करुणानिधान हैं। आप संसारसागर में पीड़ित जनों के उद्धारकर्त्ता एवं तारक हैं।

भयंकर दुःखसागर में संतत पीड़ा का अनुभव करने वाले, बहुत परेशान इस भक्त पर कृपा कीजिए जिससे यह समस्त कर्म शत्रुओं के भय से सर्वदा-सर्वथा मुक्त हो सके।

किञ्चित् कृता तव विभो मयकार्चना चेत्, याचे तदीय फलरूपमनूप मेवम्।
संतारकां चरणपंकजनिष्ठभक्तिं, स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि।।४७।।

हे प्रभो ! यदि मैंने मन, वचन, कर्म से लेशमात्र भी आपकी विशुद्ध पूजा, अर्चना की हो तो उसके फल के रूप में अनुपम आपके चरणकमलों की अखण्ड भक्ति चाहता हूँ। मेरी उत्कट अभिलाषा है कि आप ही मेरे जन्म, जन्मान्तर में आराध्यदेव हों।

भक्त्या श्रुतं बहुविधं गुणगौरवं ते, सद्यश्चमत्कृतिकरी तव पादसेवा।
मन्ये त्वदीय चरणं शरणं मदीयम्, स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तेरऽपि।।४८।।

हे जिनेश ! मैंने विनम्र भक्ति-भाव के साथ अपने कानों से आपका चमत्कारी गुणानुवाद सुना है। मैं जानता हूँ कि आंपकी चरण-सेवा कभी व्यर्थ नहीं जाती। आपकी चरण-सेवा तो तुरन्त चमत्कारिक सुफल प्रदान करने वाली है।

अतः मेरी अभिलाषा है कि आप ही इस जन्म तथा जन्मान्तरों में मेरे आराध्यदेव हों।

श्रद्धान्विता जगति सन्ति महानुभावाः, प्रेमोल्लसत् परमभक्तिनिधानचित्ताः।
नित्यं त्वदीयमुखपंकजदत्तनेत्राः, ये संस्तवं तव विभो रचयन्ति भव्याः।।४९।।

हे जिनेश्वर ! इस संसार में जो उत्कृष्ट श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम से सदैव आपकी उपासना में दत्तचित्त रहते हैं, ध्यान की एकाग्रता साधकर जो अपलक आपके दर्शन करते हैं वे महाशय धन्य हैं। वे महनीय हैं, जो आपके गुणगान से सम्पन्न, दिव्य चमत्कारिणी स्तुति करते हैं।

त्वच्चन्द्रविम्बसदृशानन - दर्शनाय, नित्यं समाहितधिया भवदीय भक्तिम्।
कुर्वन्ति सादरमहो भुवनार्तिहारिन् ! ये संस्तवं तव विभो ! रचयन्ति भव्याः।।५०।।

हे जिनेश ! आप समस्त दुःखों को दूर करने वाले हैं। इस असार संसार में जो लोग ध्यान की एकाग्रता से आपके दर्शन में तल्लीन होकर, आपकी सद्भक्ति करते हैं, लोकहितकारक, संसारसागर से पार करने वाले श्री पार्श्वनाथ जिनेश्वर की पावन स्तुति करते हैं, वे भव्यजन धन्य हैं, मान्य हैं।

मुनिजन मानसचन्द्र ! ये वत पादपद्म-सेवा-निरताः।
ते विरहित-कलुषाद्याः, अचिरान् मोक्षं प्रपद्यन्ते।।५१।।

हे पार्श्वनाथ प्रभु ! आप उत्कृष्ट मुनिजनों के पावन मानस में चन्द्रमा की तरह सुशोभित हैं। इस संसार में जो भव्यप्राणी आपकी चरण-सेवा, उपासना में लीन हैं वे राग-द्वेष आदि कलह-कषायों के कालुष्य को दूर करके शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं। ☐☐

श्री जैन शासन सेवा ट्रस्ट (रजि.)

कार्यालय–125, महावीर उद्योग नगर, पाली (राज.)

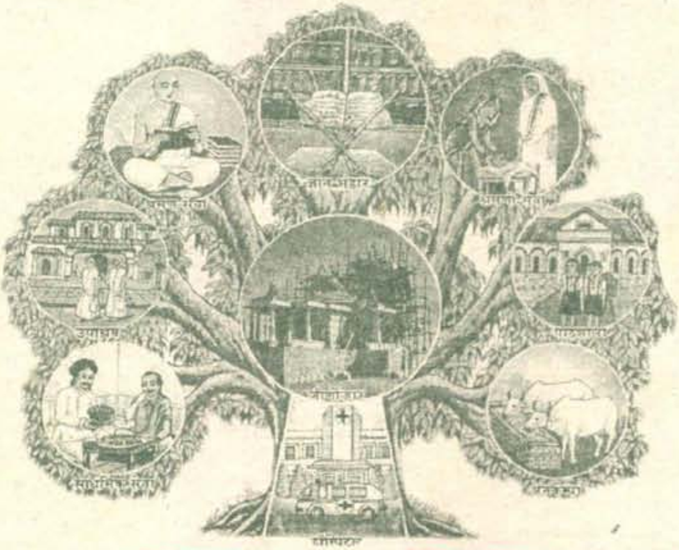

सहयोग **सेवा** **संस्कार** **सद्भावना**

1,111 रू. का सहयोग प्रदान कर सुकृत के महान कार्य में सहयोगी बनें।

शुभ आशीर्वाद

प्रतिष्ठा शिरोमणि प. पू. आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी म. सा.
एवं. प. पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वर जी म. सा.

पावन प्रेरणा

प. पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय अरिहंत सिद्ध सूरीश्वर जी म. सा. के आज्ञानुवर्तिनी पू. साध्वी श्री ललितप्रभाश्री जी म. की शिष्या पू. साध्वी श्री स्नेहलताश्री जी म. की शिष्या पू. साध्वी श्री भव्यगुणाश्री जी म., पू. साध्वी श्री दिव्यप्रज्ञाश्री जी म. (पू. माता जी महाराज), पू. साध्वी श्री शीलगुणा श्री जी म., पू. साध्वी श्री प्रफुलप्रज्ञा श्री जी म. आदि ठाणा।

ट्रस्ट मंडल

अध्यक्ष : शा. हस्तिमल जी देवीचंद जी मुठलिया, तखतगढ (मुम्बई)
उपाध्यक्ष : शा. हुक्मीचंद जी ताराचंद जी, कैलाशनगर (चैन्नई)
शा. दिलीपकुमार जी पुखराज जी, शीवगंज (सिमोगा)
महासचिव : शा. बाबुलाल जी हस्तिमल जी कोठारी, रानी (पाली)
सचिव : शा. मंछालाल जी कुंदनमल जी, तखतगढ (मुम्बई)
कोषाध्यक्ष : शा. देवराज जी दीपचंदजी राठोड़, जवाली (पाली)
सह-कोषाध्यक्ष : शा. महावीरचंद जी देवीचंद जी पालरेचा, दुंदाडा (बालोतरा)

ट्रस्टी : शा. प्रकाशचंद जी गेनमल जी, जावाल (चैन्नई), शा. पन्नालाल जी रिखबचंद जी, जावाल (चैन्नई), शा. रमणीकलाल मिलापचंद जी, नोवी (सूरत), शा. अमृतलाल जी ताराचंद जी, शीवगंज (मुम्बई), संघवी श्री घेवरचन्द जी भूरमल जी, अगवरी (नेल्लोर), संघवी श्री हसमुख भाई धनराज जी, मंडार (दिल्ली), शा. अशोक कुमार जी राठोड, चांचोडी (पूना), शा. देवराज जी किस्तूरचन्द जी, रामाजीगुडा (भिवन्डी)

सम्पर्क सूत्र :- श्री जैन शासन सेवा ट्रस्ट, C/o. शा. देवराज जी जैन, डी.डी टैक्सटाइल,
125, महावीर नगर, पोस्ट-पाली-306 401 (राज.) Ph. : (02932) 31667, 30146.

सुकृत के सहयोगी

॥ नमामि सादरं सुशील सूरीशं ॥

पू. मुनि श्री हेनरत्न विजयजी म.

॥ नमामि सादरं जिनोत्तम सूरीशं ॥

पू. मुनि श्री जिनरत्न विजयजी म.

श्री सम्मैतशिखर जी महातीर्थ में

प्रतिष्ठा शिरोमणि प. पू. आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी म. सा. के ८६वें जन्म दिवस पर पू. मुनि श्री हेनरत्न जी म. के १६२ अट्ठम तप पूर्णाहुति निमित्त–

सादर भेंट

पू. पिताश्री घीसुलाल जी

पू. मातु श्री पतासी बाई की

हार्दिक भावना से

शा. अशोक कुमार-श्रीमती दिवाली ब्हेन

शा. मनसुखलाल-श्रीमती यशोदा ब्हेन

शा. सोहनलाल-श्रीमती सीमा ब्हेन

पुत्र- प्रदीप, जयेश, रीतेश, नील

पुत्री- खुश्बु, रीहा, साक्षी

बेटा पोता- शा. घीसुलाल जी राठोड

चांचोडी (पूना)

पू. मातुश्री पतासी बाई

प्रतिष्ठान :

* श्री लक्ष्मी ज्वैलर्स, पूना * सत्यम ज्वैलर्स, पूना * ज्योति ज्वैलर्स, पूना